[Registered No B 1319]

महाभारत की
समालोचना
प्रथम भाग

ॐ

महाभारत ।

समालोचना ।

प्रथम भाग ।

लेखक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जिल्हा सातारा.)

मूल्य ८) आने ।

संवत १९८१
शक १८४६
सन १९२५

भारत मुद्रणालय औंध; [जिल्हा सातारा.]

महाभारतके नियम।

(१) महाभारत मूल और भाषांतर प्रति अंकमें सौ पृष्ठ प्रकाशित होगा।

(२)इसमें मूल श्लोक और उसका सरल भाषानुवाद होगा। महाभारत की समालोचना प्रतिमास वैदिक धर्म मासिक में प्रकाशित होती रहेगी और पर्व समाप्तिके पश्चात् पुस्तक रूपसेभी वह ग्राहकों को मिल जायगी।

(३)भूमिका रूप इस विस्तृत लेखमें धार्मिक, सामाजिक, राजकीय तथा अन्य दृष्टियोंसे परिपूर्ण विवरण होगा, तात्पर्य यह भूमिका का विस्तृत लेख भारतकालीन वस्तुस्थितिका पूर्ण रीतिसे निदर्शक होगा। यह लेख हरएक पर्व छपनेके पश्चात ही ग्राहकों को मिल जायगा।

(४)संपूर्ण महाभारतके मुख्य प्रसंगों के सौ चित्र इस ग्रंथमें दिये जांयगे। उन में प्रतिपर्व एक चित्र रंगीन भी होगा। इसके अतिरिक्त उस समयकी भूगोलिक अवस्था बताने वाले कई नकशे दिये जांयगे।

(५)इसके अतिरिक्त ग्राम,नगर,प्रांत, और देशोंके नाम, जातिवाचक नाम, तथा अन्य नामोंका पूर्ण परिचय देनेवाली विविध सूचियां भी दी जांयगी।

मूल्य।

(६) बारह अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य मनी आर्डर से ६)छः रु. होगा और वी.पी.से ७) रु. होगा, यह मूल्य वार्षिक मूल्य नहीं है, परंतु १२०० पृष्ठोंका मूल्य है।

(७)बहुधा प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रकाशित होगा, परंतु संभव हुआ तो अधिक अंक भी प्रसिद्ध होंगे।

(८)प्रत्येक अंक तैयार होते ही ग्राहकों के पास भेजा जायगा। यदि किसीको न मिला, तो उनकी सूचना अगला अंक मिलते ही आनी चाहिये। जिनकी सूचना अगला अंक मिलते ही आ जायगी उनको ही वह न मिला हुआ अंक पुनः भेजा जायगा। परंतु जिनकी सूचना उक्त समयमें नहीं आवेगी उनको ।।।=)आनेका मूल्य आनेपर, संभव हुआ तो ही अंक भेजा जायगा।

(९)सब ग्राहक अपने अपने अंक संभाल कर रखें और चार अथवा पांच महिनों के पश्चात् अपने अंकोंकी जिल्द बनवा लें जिससे अंक गुम होनेकी संभावना नहीं होगी। दो मास के पश्चात् किसी पुराने ग्राहक को पिछला अंक मूल्य देनेपरभी मिलेगा नहीं क्योंकि एक अंक कम होनेसे

महाभारत

की

समालोचना।

प्रथम भाग।

लेखक और प्रकाशक

श्रीपाद् दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जिल्हा सातारा.)

संवत १९८१, शक १८४६, सन १९२५

है कि, इसमें

विद्वान लोगोंके लिये आदरणीय बडा ज्ञानग्रंथ।

महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याऽद्भुत कर्मणः॥ २५॥
आचख्युः कवयः केचित्संप्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवाऽन्ये इतिहासमिमं भुवि॥ २६॥
इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम् ।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः॥ २७॥
अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥ २८॥

महाभारत आदि.अ. १

"सब लोगोंके पूजनीय, महानुभाव और आश्चर्य कार्यकारी श्री महाराज वेदव्यास जी का पवित्रमत प्रकाश करना प्रारंभ करता हूं। किसी किसी कविने भूमंडलमें पहिले भी इस इतिहास को कहा है, अब भी कोई इसको कहते हैं, और आगेभी बहुतेरे कहेंगे। अनंत ज्ञान का देनेवाला यह इतिहास तीनों लोकोंमें प्रशंसित हुआ है, द्विजातिके लोग इसको संक्षेपमें और विस्तार पूर्वक धारण किये हुए हैं॥ यह महाभारत ग्रंथ अनेक भांतिके छंद, अच्छे सुललित शब्द, और दिव्य श्रेष्ठ मनुष्योंके सदाचारोंसे सुशोभित हुआ है और इसलिये विद्वान लोग इसका बडा आदर करते है।"

...गी... मिलेगा नहीं

* महाभारत के पठन से लाभ। *
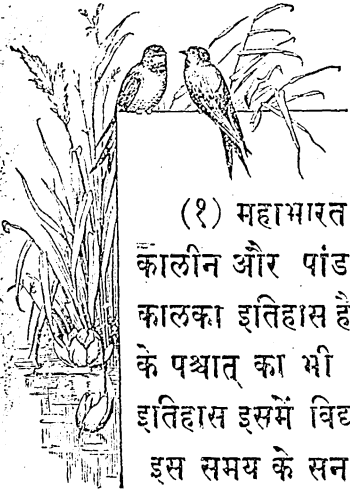
(१) महाभारत में पांडव कालीन और पांडवोंके पूर्व-कालका इतिहास है। पांडवों के पश्चात् का भी थोडासा इतिहास इसमें विद्यमान है। इस समय के सनातन वैदिकधर्मी भारतीय लोग महाभारत कालीन पंचजनोंके ही वंशज हैं। इसलिये इनको अपने पूर्वजोंका इतिहास पढना और उसका मनन करना अत्यंत आवश्यक है, इतनाही नहीं, परंतु यह उनका कर्तव्य ही है।

(२) ज्ञानी लोग कहा करते हैं कि "जिनको प्राचीन इतिहास नहीं उनके लिये भविष्य में भी आशा नहीं" भारतीय लोगोंको तो प्राचीन इतिहास है, केवल इतिहास नहीं, परंतु दिग्विजयी प्रतिभापूर्ण तेजस्वी इतिहास है; इसालिये भारतीयों के लिये भविष्यमें भी भाग्यके दिन निःसन्देह हैं। परंतु भारतीयोंको यह अपने पूर्वजोंका भाग्यशाली प्रतापपूर्ण इतिहास देखना और मनन करना चाहिये। केवल इतिहास के अस्तित्व से कार्य चलेगा नहीं, परंतु इतिहासका जितना अधिक मनन होगा उतना अधिक लाभ होना संभव है। इसलिये यह प्रतापपूर्ण दिग्विजयका इतिहास हरएक भारतीय के सन्मुख आना चाहिये।

(३) यह "महाभारत" इतिहास होते हुए भी "काव्य" के रूपमें लिखागया है, इसलिये इसका पाठ हरएक श्रेणीके लोग कर सकते हैं। जनता में लोगों की अनेक श्रेणियां होती हैं। हरएक श्रेणीके लोगोंकी रुची विभिन्न होती है। एकके लिये जो रुचिकर होता है, वही दूसरे के लिये रोचक नहीं होता। परंतु यह काव्यमय इतिहास ऐसे ढंगसे लिखागया है कि, इसमें हरएक श्रेणीके मनुष्य को

रसास्वाद मिल सकता है । आस्तिक भगवद्भक्त इसमें भक्तिमार्ग, देख सकता है, वेदांती इससे आत्मप्रत्यय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है । तार्किक नैयायिक इसीमें युक्तिवाद देख सकता है, शास्त्र जिज्ञासु इसी में अनेक शास्त्रोंके सिद्धांतोंको जान सकता है, इतिहासिक के लिये इसीमें अति विस्तृत कार्य क्षेत्र है, राजकारणपटु इसीमें राजनीति देख सकता है, वीरको इसमें वीरता मिल सकती है, गृहस्थीको इसमें उत्तम गृहस्थी जीवन मिल सकता है, ब्रह्मचारीको आदर्श ब्रह्मचर्य प्राप्त हो सकता है, तात्पर्य जो जिसकी जिज्ञासा है, वह इससे तृप्त हो सकती है । ऐसा अपूर्व काव्य मय इतिहास यह महाभारत ग्रंथ है ।

(४) संभव है कि इस समयके जीवन-कलहमें आवश्यक कई बातोंका उल्लेख इस महाभारतमें न हो, परंतु महाभारत में इतनी बातोंका वर्णन है, कि उन से इस समय भी हमें अनेकानेक बोध प्राप्त हो सकते हैं । तथा महाभारतका यदि योग्य मनन हो जाय, तो इस समय भी हमारे भारतीय राष्ट्रमें "नवीनजीवन" आसकता है । इस कारण महाभारतके मनन से इस समय भी अनेक लाभ हैं ।

(५) यह केवल इतिहास ही होता, तो यह कभी पुराना बन जाता, परंतु यह "इतिहासिक काव्य" अथवा "काव्य-मय इतिहास" है, इसलिये यह पुराना होता हुआ भी यह सदा नवीन सा रहता है । और इसीलिये हरएक समयमें इस ग्रंथसे महत्त्व पूर्ण बोध प्राप्त हो सकते हैं । हमारे जीवनमें जितनी अवस्थाएं हो सकती हैं, उससे कई गुणा अधिक अवस्थाओंका वर्णन इस ग्रंथमें है इस लिये हरएक मनुष्य हरएक अवस्था में इस ग्रंथके मननसे बोध ले सकता है ।

(६) महाभारत कालमें भारत वर्षकी धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा अन्य प्रकारकी अवस्था कैसी थी, इसका उत्तम चित्र महाभारतमें है, इसलिये इसके मननसे और उसके साथ हमारी आजकी अवस्थाकी तुलनासे पता लग सकता है कि गत पांच सहस्र वर्षोंमें हमारी उत्क्रांति हुई या अपक्रांति हुई । इस बातका ज्ञान होनेसे हमारे लिये आगे भविष्यमें किस मार्गका किस प्रकार आक्रमण करना चाहिये, इसका भी उत्तम रीतिसे निश्चय हो सकता है । इतिहासके मनन से यही महत्त्वका लाभ होता है ।

(७) भारतवर्षीय हिंदुजातिमें जो अनंत भेद हैं, उनमें एकता होनी अत्यावश्यक है । विविध भेद होते हुए भी आपसमें एकता करनेके प्रत्यक्ष फलदायी उत्तम नियम महाभारतमें जैसे कहे हैं, वैसे किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं कहे हैं । इस लिये काश्मीरसे सिलोन तक और

सिंधसे ब्रह्मदेश तक सम्पूर्ण भारतखंड का ऐक्य करनेवाला यह राष्ट्रीय ग्रंथ है, इस कारण इसका पाठ हरएक घरमें प्रतिदिन होना आवश्यक है।

(८) जिस प्रकार आजकलके भारत वर्षीयों का अन्यान्य जातियोंके साथ विविध प्रकार का संबन्ध आया है, उसी प्रकार पाण्डवकालमें भी अनेक देशकी जातियोंके साथ भारतीयोंका घनिष्ठ संबंध था। इस प्राचीन कालके भारतवासियोंने अन्य जातियोंके साथ कैसा बर्ताव किया था, यह देखकर हम इस समयभी अपने लिये योग्य बोध ले सकते हैं और हमारा कदम आगे बढा सकते हैं। अतः इस दृष्टिसेभी महाभारतके पाठसे इस समय हमारा लाभ हो सकता है।

(९) महाभारत का सबसे प्राचीन नाम जय है, क्यों कि इसमें आर्योंके दिग्विजय का उत्तमोत्तम इतिहास विद्यमान है। यदि साधारण इतिहासभी बोधप्रद होता है, तो विजयका तेजस्वी इतिहास तो निःसंदेह ही उत्साह वर्धक होना ही चाहिये। महाभारत ग्रंथ वैसाही उत्साह और शौर्य वीर्यादि वीरगुणोंको उत्तेजित करनेवाला है। इस कारण इस परतंत्रता के कालमें भी इस ग्रंथ के पाठ से अनंत लाभ हो सकते हैं और इसके मनन से आर्यजातीका पुनरुद्धार भी अतिशीघ्र हो सकता है।

(१०) महाभारत में जातीय, सामाजिक और धार्मिक उत्कर्ष तथा प्रगतिका जो इतिहास मिलता है, वह देखनेसे धार्मिक भावना की उत्तम शुद्धता हो सकती है और इसके मननसे मनके संकुचित भाव दूर होकर मन उदार हो जाता है। आजकल हमारे धार्मिक भाव अत्यंत संकुचित बने हैं, इसलिये इनको अधिक उदार और अधिक विस्तृत करनेके लिये महाभारत के पाठका अत्यंत उपयोग हो सकता है।

(११) हमारे सनातन आर्यधर्मका मूल आधार ग्रंथ "वेद" है। वेदका अर्थज्ञान होनेके लिये ब्राह्मणादि ग्रंथोंके पश्चात् महाभारत ग्रंथकी सहायता मिल सकती है। महाभारतमें स्थानस्थानमें वेद मंत्रोंके "कूटस्थल" खोल कर बताये हैं, कई स्थानोंमें वैदिक रूपकालंकार की कथाएं वर्णन की हैं, कई सूक्तोंके सूक्त और मंत्रोंके मंत्र स्तोत्र रूपसे दिये हैं और कई स्थानोंमें अन्यान्य युक्तियोंसे वेद मंत्रोंका अर्थ खोल कर बताया है। इसलिये जो मनुष्य धर्मज्ञान की लालसासे वेदका अध्ययन कर रहे हैं, उनको महाभारतके मननसे भी बहुत लाभ हो सकता है। हमारे कथनका तात्पर्य यह है, कि वेदका अर्थ निश्चय करनेके लिये जो अनेक साधन उपस्थित हैं, उनमें महाभारतका कुछ भागभी है। इसलिये महाभारतका मनन इस दृष्टिसेभी उपयोगी है।

(१२) महाभारतमें अनंत शास्त्रों का उल्लेख है। उस समयके ऋषिमुनि और अन्यान्य विद्वान कितनी विविध विद्याओंकी उन्नतिके लिये अपने जीवन समर्पित कर रहे थे, इसका ठीक ठीक ज्ञान महाभारतके पठनसे हो सकता है। इस की तुलना आजकलकी हमारी विद्यासे की जायगी,तो पता लग जायगा कि, हमारा विद्या-क्षेत्र अत्यंत अल्प हुआ है। यद्यपि अन्यान्य देशोंमें विद्याका क्षेत्र इस समयमें भी बहुतही विस्तृत होगया है और प्रतिदिन अधिक विस्तृत हो रहा है, तथापि हम भारतीयोंके लिये विद्याक्षेत्रकी व्याप्ति प्रतिदिन न्यून हो रही है। यह देख कर हमारे देशवासियोंको चाहिये कि अपने प्राचीन पूर्वजोंके समान विद्याप्रेम अपने अंदर बढावें और अपने प्रयत्नसे अपना विद्याक्षेत्र और कार्यक्षेत्र अमर्याद करें।

(१३) महाभारतकालीन आर्योंके दिग्विजयका क्षेत्र सब भूमंडल था। जितने देश उनको ज्ञात थे,उनमें उन्होंने संचार किया और वहां दिग्विजय किया था। किसी स्थानपर उनका "विजयी-ध्वज " रुका नहीं था। सस इमय हमारी अवस्था उनके विपरीत है। हमें अन्य-देशोंमें प्रवेश भी प्रतिबंधित है, इस समय हमारा कार्यक्षेत्र नौकरीके सिवाय कुछभी नहीं है। ऐसी विपरीत अवस्था में पांडवोंका दिग्विजयका इतिहास हमारा कार्यक्षेत्र विस्तृत करनेकी दिशा बतानेवाला निःसंदेह हो सकता है। अतः इस पददलित अवस्थाको दूर करनेके लिये भी महाभारतके पाठसे अत्यंत लाभ हो सकता है।

(१४) जिस ग्रंथमें जितने " आदर्श जीवनचरित्र " अधिक होते हैं, उतनी अधिक योग्यता उस ग्रंथकी होती है। इतिहासिक काव्यमय ग्रंथकी उत्तमताकी यही कसौटी है। इस दृष्टिसे यह महाभारत " आदर्श जीवनों " की खान है, ऐसा कहना कदापि अत्युक्तिका कथन नहीं हो सकता, क्यों कि इसमें सैंकडों महापुरुषोंके आदर्श जीवन ऐसे उत्कृष्ट हैं, कि जो सामने रखनेसे मनुष्य मात्रका उद्धार हो सकता है। इस कारण इस महाभारत का पाठ हरएक भारतीय को करना आवश्यक है। भीष्माचार्य का आदर्श ब्रह्मचर्य,श्रीकृष्णचंद्रका राजकारण पटुत्व, अर्जुनका शौर्य,कर्ण का औदार्य,धर्मराज-का धर्माचरण, आदि अनंत आदर्श पुरुष महाभारतमें हैं, जो इस हमारे राष्ट्रका उद्धार करनेमें साहायक हो सकते हैं। परंतु यह सब उस समय हो सकता है कि जिस समय महाभारत का अध्ययन सार्वत्रिक हो। इसकारण इस दृष्टिसे इस ग्रंथका पठन होना आवश्यक है।

(१५) हरएक सनातनधर्माभिमानी आर्य-हिन्दू-के अंतःकरणमें महाभारत के विषयमें आदर है। वेदके पश्चात्

धर्मविषयमें प्रमाणग्रंथ महाभारत माना जाता है, इसीकारण इसको " पंचमवेद " कहते हैं । चार वेद प्रसिद्ध हैं और पांचवां वेद यह महाभारत ही है । इतनी योग्यता जिसकी इस समयतक मानी जाती है, उसका पठन हुआ तो कितने लाभ हो सकते हैं, इसका अनुभव स्वयं पाठक ही पढकर कर सकते हैं । निःसंदेह इसके पाठसे मनुष्य उच्च मनोभूमिका में पहुंच सकता है । इसलिये महाभारत के पाठ का हो सकता है, उतना प्रचार करना हरएक का कर्तव्य है ।

महाभारतके पाठसे अनंत लाभ हो सकते हैं । आर्योंके जीवनों को उच्चताकी दिशाकी ओर झुका देनेका सामर्थ्य महाभारत ग्रंथमें है । यहां इसके पाठसे होने वाले लाभोंका थोडासा उल्लेख किया है । महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक आदि इस शताब्दीके महान नेताओंने भी "महाभारतके पाठसे आर्योंका राष्ट्रीय जीवन ओजस्वी और तेजस्वी हो सकता है" ऐसा ही एक मतसे कहा है । इस लिये इस विषयमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है । जो पाठक पढेंगे वेही इसकी योग्यता जान सकते हैं ।

[महात्मा गांधीजी]

मैंने इससे पूर्व "महाभारत" का थोडासा भाग देखा था, परंतु संपूर्ण ग्रन्थ पढा नहीं था। पढनेसे पूर्व मेरा ऐसा ख्याल था, कि इसमें केवल मारपीट, लडाई और झगडों की ही कहानियां होंगी और इतने लंबे वर्णन होंगे, कि मेरेसे पढे भी नहीं जांयगे, अथवा मैं पढने लगूं, तो मुझे संभवतः निद्रा ही आ जायगी! इतने बडे ग्रंथका पढना प्रारंभ करनेके लिये मुझे पहिले बडा डर लगता था। परंतु जब मैंने इसको एकबार पढना प्रारंभ किया, तब मुझे उसमें इतना प्रेम आगया कि उसको शीघ्र समाप्त करने के लिये ही मैं अत्यन्त उत्सुक बन गया और सम्पूर्ण पढ जानेसे मेरी पहिलेकी उस विषयकी सब संमतियां गलत सिद्ध हुई !!

मैंने इसको चार महिनों में पूर्ण किया, तब मुझे पता लगा कि यह महाभारत रत्नोंकी छोटीसी संदूकडी के समान ही नहीं है, कि जिसमें थोडेसे रत्नही मिल जांय; प्रत्युत यह महाभारत अमूल्य रत्नोंकी अपरिमित खान है, कि जिसको जितना अधिक खोदा जाय, उतने अधिक मूल्यवान रत्न मिल सकते हैं।

मेरे लिये यह महाभारत इतिहासिक ग्रंथ नहीं है। इसको इतिहास सिद्ध करना अशक्य है। इसमें सनातन सचाइयोंका आलंकारिक रूपमें काव्यमय वर्णन है। इसमें कवि अपनी अद्भुत शैलीके अनुसार इतिहासिक पुरुषों और कथाओंको देवदूत, राक्षस अथवा और कुछ बनाकर वर्णन

करता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है, कि उसको सत्य और असत्य, आत्मा और जड, ईश्वर और सैतान इनके सनातन युद्धोंका वर्णन करना है ।

यह महाभारत एक बडी नदीके समान है, कि जो अपने अंदर छोटे मोटे नदीनालोंको तथा गंदले जलप्रवाहोंको भी अपने अंदर मिला लेता है और अपनी सत्ताको कायम रखता हुआ आगे बढता जाता है । यह मूलमें एक ही बुद्धिकी रचना है, परंतु बडे समय व्यतीत होने के कारण बीचमें मिलावटेंभी होगई हैं और अब मूल कौनसा और मिलावट कौनसी इसका निश्चय करना कठिन होगया है ।

महाभारतकी समाप्ति बडीहि महत्वपूर्ण है। यह स्पष्ट रीतिसे बताती है, कि प्राकृतिक शक्ति अत्यंत तुच्छ है । अंत में एक ब्राह्मणके हार्दिक सर्वस्व-अर्पणसे जो बिलकुल थोडासा ही था; परंतु जो उसने गरीब प्रार्थी को योग्य समयमें दान दिया था, युधिष्ठिरका महामेध भी न्यूनही सिद्ध हुआ है।

विजयी पाडवोंको अंतमें शोकही शोक रहा है, महाप्रतापी श्रीकृष्ण जी की मृत्यु असहाय स्थितिमें होती है, वीर यादवोंका नाश आपसके युद्धसे होता है, विजयी अर्जुनका उसके साथ गांडीव धनुष्य रहते हुएभी चोरोंके द्वारा पराभव होता है, एक युवक के ऊपर राज्यका भार सौंप कर पांडव वनमें जाते हैं, स्वर्गके मार्गमें एकको छोडकर अन्य सब मरते हैं, मूर्तिमान धर्मराज युधिष्ठिर को भी, थोडीसी असत्य बात विशेष विकट प्रसंग में कहने पर भी, नरक का दृश्य देखना पडता है ।

कार्यकारण अर्थात् कर्मके सनातन तथा अटलनियमको सर्वोपरि बताते हुए, वह किसीको भी छोडता नहीं, सब पर एकसा ही कार्य करता है. यह बात इस ग्रंथमें अत्यंत उत्तम रीतिसे बताई है ।

यह बिलकुल सत्य है कि जो सत्यसिद्धांत अन्य पुस्तकोंमें हैं, वह संपूर्ण रूपसे इस महाभारतमें विद्यमान हैं। इसीलिये यह महाभारत श्रेष्ठ ग्रंथ है।

(यंग इंडिया)

स्वर्गीय

लोकमान्य महात्मा तिलक महाराज का महाभारतके विषय में मत ।
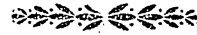
१ महाभारत ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है ।

२ इसमें धर्मराजकी सत्यनिष्ठा, कर्णकी उदारता, भीष्मका बाहुबल, अर्जुन का युद्ध कौशल इत्यादि अनेक अवर्णनीय गुणोंसे युक्त वीरोंका वर्णन है और इन वीरोंका चरित्र पठनीय तथा मननीय है ।

३ उन सबोंमें भीष्मपितामह का दृढ निश्चय और श्रीकृष्णचंद्र का राजनीतिपटुत्व विलक्षण महत्त्व रखता है। इनके सामने अन्योंके अन्यान्य गुण फीके हैं ।

४ इस लिये नवयुवकों को मेरा यही कहना है कि वे महाभारतका अध्ययन अवश्य ही करें और भीष्मपितामहका दृढनिश्चय तथा श्रीकृष्ण चंद्र का राजनीतिपटुत्व अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करें । ”

तिलक स्मरण पृ० १४७

महाभारत ग्रंथ सर्व शास्त्रों का सारसंग्रह है।

"वेदकी दृष्टि से गाथाओं का अर्थ निश्चित करना।" यह स्वाध्याय मंडलका आठवां उद्देश्य पाठक जानते ही हैं। इतिहास, पुराण और ब्राह्मण ग्रंथोंमें अनेक विध गाथाएं विद्यमान हैं। उनका ठीक ठीक अर्थ लगानेका प्रयत्न इस समयतक किसीने किया नहीं है, इस विषयमें प्रयत्न होना अत्यावश्यक है।

गाथाओं का विचार हमने कई वर्षोंसे चलाया है और उनकी तुलना वेदमंत्रों के साथ भी करके देखी है, जिससे हमारा पूर्ण विश्वास हुआ है, कि वेद मंत्रोंके आधार से जो गाथाओंका अर्थ होगा, वही उनका ठीक अर्थ होगा। इसलिये इनके सत्य अर्थ के प्रकाशके लिये वेद मंत्रोंके साथ गाथाओंकी तुलना करना अत्यंत आवश्यक है।

पुराण और उप पुराण ये ग्रंथ बहुत बडे हैं, ये इतने बडे हैं कि, कोई एक आदमी इनका पठन भी कर नहीं सकता, इसलिये संपूर्ण पौराणिक कथाओंकी तुलना वेदके साथ करना और उनके "वैदिक होने अथवा न होनेका विचार" निश्चित करना प्रायः अशक्य ही है। कई विद्वान कलम की एक लकीर से सब पौराणिक कथाओंको "गप्पों" में रख देते हैं, तो कई दूसरे सज्जन उन कथाओंको सत्य मानते हैं!! प्रमाणके विना किसी कथाको सत्य मानना या असत्य मानना अथवा गप्प समझना सर्वथा अयोग्य है। उदाहरण के लिये चंद्रकी कथा लीजिये। "चंद्र, तारा अथवा रोहिणी नामक एक स्त्री के साथ संगत होकर उनके मेलसे बुध की उत्पत्ति हुई।" यहां विस्तृत कथा देनेकी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि इस कथा की पूर्ण संगति लगानेका कार्य यहां करना नहीं है, परंतु उदाहरणार्थ इस कथाका संबंध बताना है। कई लोग कहेंगे कि चंद्र, रोहिणी और बुध ये ग्रह और तारे हैं, इनकी शादी नहीं हो सकती, इसलिये यह "गप्प" है। इस दृष्टिसे सचमुच यह गप्प ही है। वास्तविक उनका विवाह

संबंध वैसा नहीं हुआ था, जैसा कि इस समय हमारे मनुष्य समाजमें स्त्री पुरुषोंका विवाह होता है। संभवतः लेखक को भी पता होगा कि,ये ग्रह हैं और तारागण हैं,अतः उनका विवाह हो नहीं सकता। यह बात साधारण मनुष्य भी जान सकते हैं। फिर ऐसा क्यों लिखा गया है?

इसी प्रश्नका विचार उपपत्तिके साथ करना चाहिये और इसी लिये विशेष अभ्यास की आवश्यकता है। उक्त कथामें तारा अथवा रोहिणी तथा चंद्र और बुध की " युति " का वर्णन है,गणितसे यह युति अर्थात् इसका एक राशीमें निवासका काल निश्चित किया जा सकता है। अर्थात् कथामें वर्णन की हुई बात केवल गप्प नहीं है, परंतु यह ज्योतिष विषयकी एक सचाई है। इस प्रकार कथाका मूल रूप देखनेसे अनेक आशंकाएं दूर होती हैं, इसलिये कथाओं और गाथाओं का मूल स्वरूप देखने और जानने की अत्यंत आवश्यकता है।

" पुराण " ग्रंथोंमें संपूर्ण प्राचीनतम कथाओंका संग्रह हुआ है और उनसे अर्वाचीन इतिहासिक कथाओंका संग्रह रामायण महाभारत नामक " इतिहास " ग्रंथोंमें किया गया है। संग्रह की दृष्टिसे पुराणोंमें " अग्नि पुराण" और इतिहासोंमें " महाभारत " श्रेष्ठ ग्रंथ है।

आजकल जिस प्रकार " विश्वकोश" अर्थात् सारग्रंथ बनाते हैं,उसी प्रकार प्राचीन ऋषिमुनियोंके बनाये "विश्वग्रंथ" ये हैं। सबसे प्राचीन आर्योंका विश्वकोश "अग्निपुराण "था, और उसके पश्चात् बना हुआ विश्वकोश " महाभारत " है। " विश्व कोश " वह होता है कि जिसमें उस समयतक जो ग्रंथ बने होते हैं, उन सब का सार होता है। इसी प्रकार यह महाभारत भी विश्वकोश है, क्योंकि इसमें उस समयतकके संपूर्ण ग्रथोंका सार विद्यमान है, देखिये——

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत्। वेदा योगः सविज्ञानो धर्मार्थः काम एव च ॥४८॥ धर्मार्थकामयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥४९॥ इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च। इह सर्वमनुक्रांतमुक्तं ग्रंथस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥

महाभारत. आदि. अ. १

" संपूर्ण भूतों के स्थान, सब विविध रहस्य, वेद, योगशास्त्र,विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, लोकयात्रा संबंधी विविध शास्त्र, इतिहास, कथा, आदि सब ज्ञान इस महाभारत में संगृहित है। "

यह सब ज्ञान यहां होना ही इस महाभारतका लक्षण है। संपूर्ण ज्ञान अर्थात् लेखक के समयका संपूर्ण ज्ञान इसमें इकठ्ठा किया गया है, यह बात इसप्रकार

महाभारतके लेखक ने ही स्वयं कही है। तथा और भी देखिये—

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ ॥६१॥ ब्रह्मन्वेदरहस्यं च यच्चान्यत्स्थापितं मया। सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥ ६२॥ इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्। भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम्॥ ६३॥ जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः। विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥ ६४ ॥ चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च सर्वशः। तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चंद्रसूर्ययोः ॥ ६५॥ ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह। ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥६६॥ न्यायः शिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा। हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥ ६७ ॥ तीर्थानां चैव पुण्यानां दिशानां चैव कीर्तनम्। नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥६८॥ पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम्। वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥६९॥ यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ॥

महाभा०आदि०अ०१

"(१) मैंने यह भारतरूपी एक अपूर्व काव्य निर्माण किया है। इसमें ये विषय हैं — (२) वेदोंका रहस्य, (३) उपनिषदोंका तत्त्व (४) अंग उपांगोंकी व्याख्या (५) इतिहास और पुराण का विकास, (६) भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालों का निरूपण, (७) बुढापा, मृत्यु, भय, व्याधि, भाव, अभाव, आदि का विचार, (८) त्रिविध धर्म और आश्रमके लक्षण (९) चार वर्णों के धर्म, (१०) पुराणों में कथित आचार, (११) तपस्या और ब्रह्मचर्य का वर्णन, (१२) पृथ्वी, सूर्य,चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा तथा चारों युगोंका प्रमाण, (१३) ऋग्वेद,यजुर्वेद, सामवेद और अध्यात्म आदिका विचार, (१४) न्याय, शिक्षा, (१५) चिकित्सा, (१६) दान,(१७)पाशुपत आदिमतोंका विचार, (१८) दिव्य जन्म और मानुषजन्म का विचार, (१९) पुण्य तीर्थ, दिशा,नदी, पर्वत, वन, सागर, दिव्य नगर आदिका वर्णन, (२०) युद्ध कौशलका वर्णन, (२१) भिन्नभिन्न जातियोंके आचार विशेष, (२२)विविध लोकव्यवहार आदि का पूर्ण वर्णन तथा (२३) सर्वव्यापक आत्मा का वर्णन किया है।

यह भगवान व्यासजी का कथन विचार करने योग्य हैं। इस महाभारतके स्वरूपका वर्णन करते हुए "मैंने कौरव पांडवों की कथा लिखी है।" ऐसा कहा नहीं है, प्रत्युत ऐसा कहा कि, "इस अपूर्व काव्यमें इतने विविध शास्त्रोंका वर्णन किया है।" इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि इस ग्रंथमें "विविध शास्त्रों के संग्रह की बात प्रधान है" और विशिष्ट राजा के वृत्तांत कहनेकी बात गौण है। अथवा यौं भी कह सकते हैं कि, कौरव पांडवों के काव्यमय इतिहास के कथन के मिषसे इस महाभारतमें विविध शास्त्र ही कहे गये हैं। यदि पाठक महाभारत का अभ्यास करनेके समय इस मुख्य बात को ठीक प्रकार स्मरण रखेंगे तो ही वे महाभारत के अभ्यास से अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। अर्थात्—

(१) महाभारत एक अपूर्व काव्य ग्रंथ है,

(२) कौरव-पांडवोंके इतिहास के मिषसे उसमें विविध शास्त्रोंका वर्णन है,

(३) पूर्वोक्त वेदादि शास्त्रोंका संग्रह करना यह इस ग्रंथका मुख्य उद्देश्य है और—

(४) इस उद्देश्यके अनुसार इसमें वेदादि शास्त्रोंसे लेकर अन्य संपूर्ण शास्त्र-जो इस महाभारतकालमें विद्यमान थे, उनका संग्रह किया गया है।

अर्थात् यह ग्रंथ वास्तवमें एक काव्य रूप सारग्रंथ, विश्वकोश (Encyclopidia) सारसंग्रह, सर्वशास्त्रसारसंग्रह ग्रंथ है। इसमें अन्यशास्त्रोंके साथ साथ इतिहास भी है। यह महाभारत ग्रंथकी विशेषता पाठक ध्यान में धरें। व्यास भगवान की अन्य प्रतिज्ञा भी यहां देखने योग्य है—

> भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
>
> श्री. भागवत. १।४।२८

"भारत के मिषसे वेदकाही अर्थ प्रदर्शित किया है।" तथा और देखिये—

> स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥
> इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥
>
> श्री. भागवत. १।४।२५

"स्त्री, शूद्र और द्विजबंधु अर्थात् मूढ द्विज ये लोग श्रुतिका अर्थ समझ नहीं सकते, इसलिये इन मूढोंको श्रेयःप्राप्तिका उपाय ज्ञात हो जाय, इस हेतुसे व्यास मुनिने भारत नामक आख्यान रचा है।" अर्थात जो मूढ लोग प्रत्यक्ष वेद मंत्र पढ कर अर्थ नहीं समझ सकते, उनको वेदोक्त सनातन धर्मका ज्ञान देनेके लिये भारत की रचना की गई है और इसी कारण इस में भारत कथा के मिषसे "वेदका अर्थ ही प्रकाशित किया गया है।" तथा और देखिये —

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः॥

श्री.भागवत १।४।३५

" अकर्ता अजन्मा आत्मा के कर्म और जन्म जो वेदमें गुप्त हैं, वेही कविलोग कथाओंके मिषसे वर्णन करते हैं।"

इत्यादि प्रकार (१) अजन्मा और अकर्ता आत्माके जन्म और कर्मोंका वृत्तान्त जो विविध कथाओंमें दिखाई देता है, वह गुप्त रीतिसे वेदमंत्रों में है। इस (२) वेदके तत्त्व का अलंकारों में परिवर्तन करके मूढ जनोंके सुखबोध के लिये कथाओं की रचना विविध प्रकार से की गई है, (३) तात्पर्य वेदका ही अर्थ भारत में कथाओं के मिषसे बताया गया है।

पूर्वोक्त महाभारत के वर्णन में भी "वेदादि शास्त्रोंके तत्त्वका विचार इस ग्रंथमें किया गया है," यह बात आ चुकी है, उसका अनुसंधान यहां करना चाहिये। अस्तु इस प्रकार वेदका आशय,तथा अन्यान्य शास्त्रों और मतमतांतरों का सार इस महाभारत में है, यह बात यहां स्पष्ट हो गई है।

पाठक यदि महाभारत मनन के साथ पढेंगे,तो उनको यहां सैंकडों विद्याओं और शास्त्रोंका सार स्थानस्थानमें दिखाई देगा। किसी न किसी कथा का मिष दिखलाकर उसमें किसी शास्त्रका सार बताया गयाहै।

इस प्रकार काव्यमय इतिहास और इतने विविध शास्त्रोंका संग्रह जिसमें इकट्ठा किया गया है, ऐसा यही एक अपूर्व ग्रंथ है।इसकी तुलना किसी अन्य मनुष्यनिर्मित ग्रंथ के साथ हो ही नहीं सकती। जिस समय यह अपूर्व ग्रंथ निर्माण हुआ उस समय इसकी अपूर्वता का अनुभव विद्वानों ने भी यथायोग्य रीतिसे ही किया था, देखिये—

अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः। ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारणम्॥८४॥ धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः। तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहितं तमः॥८५॥ पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः। नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत्प्रकाशनम्॥८६॥ इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना। लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्संप्रकाशितम्॥८७॥

महाभारत आदि. अ. १

" अज्ञानी लोगोंके अज्ञान को दूर करके इस भारतरूपी अंजन से जनताके ज्ञाननेत्र खोल दिये गये हैं! इसमें धर्म अर्थ काम और मोक्ष का वर्णन विस्तार से और संक्षेपसे होनेके कारण इस भारत सूर्यने मानवों का अंधेरा दूर किया है। पुराण पूर्ण चंद्र के उदय होनेसे ही अर्थात्

भारत ग्रंथरूपी चंद्रोदय होनेसे ही श्रुति रूपी चांदना प्रकट होकर मनुष्योंके बुद्धि-रूप कमलोंकी प्रसन्नता हो गई है! मोहरूपी आवरणका नाश करनेवाले इस महाभारत रूपी इतिहास-प्रदीपसे मनुष्योंके आंतरिक हृदयमंदिरमें अत्यंत उत्तम प्रकाश हो चुका है।"

यह महाभारतका वर्णन कोई अत्युक्ति-का नहीं है। महाभारतमें संपूर्ण शास्त्रों का सार होने से ही अनेक शास्त्रोंके अध्य-यन का कार्य इस एक के अध्ययनसे होनेके कारण उक्त वर्णन बिलकुल यथार्थ है, इस में किसी को संदेह नहीं हो सकता तथा और देखिये —

> एकतश्चतुरो वेदा भारतं चै-तदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥ २७१॥ चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्महाभारत मुच्यते।।२७२॥महत्वे च गुरु-त्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम्। महत्वाद्भारवत्वाच्च महाभा-रतमुच्यते ॥ २७३ ॥
>
> महाभारत. आदि. अ. १

" पूर्व कालमें सब देवताओंने मिलकर तराजूकी एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर इस महाभारत को चढाकर तोल किया था, इससे रहस्य सहित चारों वेदों से यही भारी निकला! उस दिनसे लोग इसको महाभारत कहने लगे, क्यों कि बढाई और गुरुआई में यह बढ कर है।'

चार वेदोंकी मंत्रसंख्या करीब वीस हजार है और इसकी श्लोक संख्या लाख है। अर्थात् श्लोक संख्या से वेदोंके पांच गुणा बडा यह महाभारत है। अतः बोझमें भी पांचगुणा होना संभव है। इससे यह बात कोई न समझे कि तत्त्वज्ञान की दृष्टीसे वेदोंकी अपेक्षा महाभारत श्रेष्ठ है। उक्त वर्णन का यह तात्पर्य नहीं है। उक्त वर्णनमें तो केवल "आकार और बोझ" की ही तुलना की गई है। तत्व ज्ञान की दृष्टिसे वेदोंका महत्व इसी महा-भारतमें अन्यत्र वर्णन किया ही गया है। इसलिये बोझकी दृष्टिसे उक्त वर्णन देखने योग्य है। इसमें दूसरी भी बात विचारणीय है वह यह है कि, वेद और उपनिषद् तत्वज्ञानकी दृष्टिसे अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ हैं, परंतु उनको यथार्थ रीतिसे समझनेवाले सहस्रोंमें एक दो विद्वान होंगे, परंतु महाभारतकी कथाओंसे बोध लेकर सुज्ञ होने वाले मनुष्य अनेक मिल सकते हैं; क्यों कि इसमें जो धर्मशास्त्रका विषय प्रतिपादन किया गया है, वह अज्ञ जनोंके समझमें आने योग्य सुगम रीतिसे किया गया है, तथा इतिहासके साथ धर्म-तत्वोंका बोध संमिलित होनेके कारण महाभारतके पढनेसे निःसंदेह पाठकोंके अंदर "व्यवहार–चातुर्य" आसकता है। इस विषयमें देखिये—

यो विद्याचतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः । न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ ३८२ ॥ अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् । कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनाऽमितबुद्धिना ॥ ३८३ ॥ श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते । पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥ ३८४ ॥ अनाश्रित्यैदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते । आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३८८ ॥

म. भा. आदि अ. २

"जो विद्वान् अंगों सहित चार वेद और संपूर्ण उपनिषद् जानता है, परंतु महाभारतका जिसने अध्ययन नहीं किया वह विचक्षण अर्थात् चतुर नहीं कहा जा सकता। अपार बुद्धिमान् व्यास देव जी ने यह महाभारत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और धर्म शास्त्र करके बनाया है। जिस प्रकार कोकिल का मधुर शब्द सुननेके पश्चात् कौवेका शब्द सुनना कोई नहीं चाहता, उसी प्रकार महाभारत कथा का श्रवण करने के पश्चात् अन्य कथा श्रवण करनेकी इच्छाही नहीं होती। जिस प्रकार अन्न भक्षण करने के विना शरीर धारण का कोई उपाय नहीं है, उसी प्रकार इस महाभारतके आश्रयके विना कोईभी उपाख्यान नहीं है।"

यह वर्णन देखनेसे भी महाभारतका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। वेद और उपनिषद् निःसन्देह तत्त्वज्ञानके ग्रंथ हैं, उनके पढनेसे मनुष्य ज्ञानसंपन्न हो सकता है; परंतु चतुरता प्राप्त करनेके लिये ऐसे पुरुषोंके इतिहास पढने चाहियें कि, जिन्होंने वेदों और उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान अपने जीवनमें ढाला है और उस तत्त्वज्ञानका जीवन व्यतीत करनेके लिये विरोधियोंके साथ विविध प्रकारके युद्ध किये हैं। "सत्यधर्मका पालन करना चाहिये" यह वेदों और उपनिषदोंकी आज्ञा है, इसका पालन धर्मराज और हरिश्चंद्रने किया, विरोधियोंके साथ सत्याग्रह करके अपना और सत्यका विजय जगत्में उद्घोषित किया (१) वेदकी आज्ञा और (२) उसका पालन करनेवाले सत्पुरुषों का जीवनचरित्र इन दोनोंका ठीक ठीक बोध होनेसे मनुष्य चातुर्य संपन्न हो सकता है। यही बात निम्न श्लोकमें कही है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति २६७

म. भा. आदि. अ. १

इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थका प्रकाश करें, क्यों कि थोडी विद्या पढे हुए जनसे वेदको भय उत्पन्न होता है कि वह मुझे बिगाडेगा।

इसका भी तात्पर्य यह है कि इतिहास

और पुराणग्रंथों में ऐसी कथाएं हैं कि,जो वेदके अर्थका प्रकाश करनेवाली हैं । इस लिये वेदका सत्य अर्थ जाननेके लिये उक्त कथाओंको जानना अत्यावश्यक है। अथवा यों कहा जा सकता है कि वेदका सत्य अर्थ जाननेके जो अनेक साधन होंगे, उनमें यह भी एक साधन है कि, "वेदके मूल मंत्रोंके साथ पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं की तुलना करना।"

इस लेख मालामें हम आगे बतायेंगे कि किस प्रकार यह तुलना हो सकती है और इससे सत्य अर्थ निकालनेकी सहायता किस प्रकार तथा किस रूपमें होना संभव है ।

मनुष्यके लिये चार पुरुषार्थ करना आवश्यक हैं, और उन चारों पुरुषार्थोंके साधक उपदेश इस महाभारतमें व्यास देवजीने दिये हैं, तथा उक्त श्लोकोंमें और भी स्पष्ट रूपसे यह कहा है कि महाभारत में जो कथा है वही अन्यत्र है और दूसरे किसी मनुष्यकृत ग्रंथ में ऐसी कोई कथा नहीं है कि, जो महाभारतकी कथाके आश्रय से रची नहीं है । इस का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि यह महाभारत ग्रंथ उस समयके संपूर्ण शास्त्रों और विविध ग्रंथोंका एक प्रकारका "सार संग्रह ग्रंथ" है। और इसकी रचनामें संपादक अथवा लेखक ने ऐसी योजना की है कि,अपने समयके संपूर्ण ग्रंथोंका सारभूत तत्त्वज्ञान इसमें संगृहित हो जाय और ऐसा कोई भी ग्रंथ न रहे कि जिसका सारभूत तत्त्वज्ञान इसमें न आया हो । इस प्रकारकी योजना महाभारतमें होने और इसमें उस समयके संपूर्ण ग्रंथोंका सार होनेके कारण ही कहते हैं कि—

"व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।"

"संपूर्ण जगत् व्यासका उच्छिष्ट ही है ।" अर्थात् सब ग्रंथ व्यासके उच्छिष्ट ही हैं । ऐसा एकभी ग्रंथ नहीं था कि जो व्यासने नहीं चखा और उसका रस अपने ग्रंथमें नहीं लिया । अस्तु, इस रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको पता लग जायगा कि,कौरव पांडवोंके इतिहासके अतिरिक्त भी महाभारतकी विशेष योग्यता है और वह योग्यता इस ग्रंथके (Encyclopedia) सारसंग्रहरूप होनेसे ही है । आजकलके सार संग्रह ग्रंथोंमें और महाभारतमें भेद यह है , कि आजकलके सारसंग्रह आद्योपांत पढे नहीं जा सकते और यह ग्रंथ रसपूर्ण होनेसे पढा जाता है ।

कौरव पांडवोंका इतिहास देते हुए विविध शास्त्रों और ग्रंथोंके सार ऐसी युक्तिसे इसमें दिये हैं, कि ग्रंथ पढते पढते अन्य विविध शास्त्रोंका विचार भी मनमें न लाते हुए, पाठक उन शास्त्रोंके तत्त्वोंके साथ परिचित हो जाते हैं ! पाठक इस बातका विचार मनमें लावें और महाभारत की योग्यता जाननेका यत्न करें।

इस महाभारतमें कौनसी कथाएं सत्य हैं, कौनसी कथाएं अलंकार रूप अर्थात्

कल्पित हैं, कौनसे अन्य तत्त्व सत्य हैं और कौनसे आज कलकी वैज्ञानिक दृष्टिसे मिथ्या हैं,इसका विचार आगे क्रमशः आ जायगा। इस लेखमें अब यही बताना है कि, यह ग्रंथ "सार संग्रह ग्रंथ" होनेके अतिरिक्त इतिहास की दृष्टिसेभी इसका महत्त्व अत्यंत है। पांडव कालीन आर्योंकी सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक अवस्था किस प्रकार थी,इसका निश्चित ज्ञान इस ग्रंथके पढने से हो जाता है। जिस समय मनुष्योंमें कुटुंबके बंधन नहीं थे, उस समय से पांडवोंके समयतक का सामाजिक उन्नतिका इतिहास महाभारतमें है। अर्थात् कमसे कम बीस हजार वर्षोंका सामाजिक उत्क्रांतिका इतिहास अर्थात् मनुष्योंकी उत्क्रांतिका इतिहास इसमें है। इतने विस्तृत समयका इतिहास किसी अन्य ग्रंथमें निश्चयसे नहीं है।

इसके अतिरिक्त धर्मराजकी धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठा, भीमसेनकी शक्ति और सरल वृत्ति, अर्जुन का अद्भुत पराक्रम, नकुलसहदेवों की बंधुप्रीति,द्रौपदी गांधारी आदि आर्य स्त्रियोंका अद्भुत चारित्र्य श्रीकृष्ण भगवान् का राजनीतिपटुत्व, भीष्माचार्यका अखंड ब्रह्मचर्य और धर्म ज्ञान, धृतराष्ट्रका पुत्रप्रेम,दुर्योधनकी साम्राज्यवर्धन की प्रबल इच्छा,कर्णका औदार्य और स्वाभिमान, इत्यादि महाभारतीय पुरुषोंके स्वभाव गुणोंका परिणाम जो पाठकोंके मनके ऊपर हो सकता है, और उससे जो मनुष्योंके स्वभावमें अद्भुत उच्चता आसकती है वह विलक्षण ही महत्व रखती है।

तात्पर्य अनेक दृष्टिसे देखनेपर भी महाभारतके पढने से अत्यंत लाभ होना स्वाभाविक है, इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि,वे इस ग्रंथका पठन और मनन करें और स्वयं बोध लें, तथा अपने बालबच्चोंके मनोंपर भी उसका संस्कार डाल दें।

अब सब लेख मालामें महाभारतीय कथाके विशेष प्रसंगों का क्रमशः विचार होगा और उस विचारमें वेदमंत्रोंके साथ महाभारतीय कथाकी तुलना विशेष रीतिसे की जायगी।
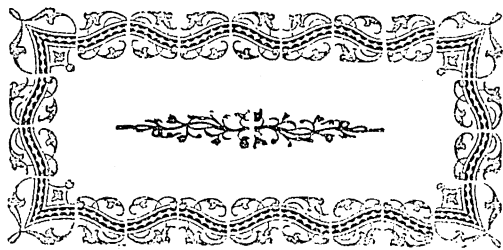
महाभारत की रचना करनेवाले भगवान् श्रीवेदव्यास।

यह सुप्रसिद्ध इतिहासिक बात है कि महाभारत के रचयिता भगवान श्री वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन हैं। परंतु यहां हमारे सन्मुख यह प्रश्न है कि, इस समय जो महाभारत मिलता है वह सबका सब वेदव्यास जीका बनाया है वा नहीं। इस विषयका विचार करनेके लिये निम्न लिखित आश्वलायन गृह्य सूत्र बडा उपयोगी है—

सुमंतु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्याः।

आश्व०गृह्यसू० ३। ४

इसमें "(१) भारताचार्य और (२) महाभारताचार्य" ऐसे दो आचार्योंका उल्लेख है। इस आश्वलायन सूत्रकारके मतसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, "भारत और महाभारत" ये दो ग्रंथ हैं और इनके लेखक आचार्य भी भिन्नही हैं। भारत और महाभारत, (छोटा भारत ग्रंथ और बडा भारत ग्रंथ) इन शब्दोंके अर्थोंसे ही पता लगता है, कि "भारत" नामक ग्रंथ आकारमें छोटा और "महा—भारत" ग्रंथ आकारमें बडा था, अर्थात् पहिलेमें श्लोक संख्या थोडी और दूसरेमें श्लोक संख्या अधिक होनी स्वाभाविक है।

यदि आश्वलायन के समय "भारत और महाभारत" नामके दो इतिहास ग्रंथ थे, अथवा उक्त नामके दो इतिहास- लेखक- आचार्योंका सन्मान किया जाता था, तो यह संदेहरहित बात होगी, कि भारतग्रंथके लेखक अथवा रचयिता और महाभारत ग्रंथके लेखक और रचयिता दो भिन्न आचार्य हैं। पहिले "भारत" ग्रंथ था, उसका पिछेसे "महाभारत" बनगया। अब इस विषयमें महाभारत कीभी साक्षी देखनी योग्य है—

वासुदेवस्य माहात्म्यं पांडवानां च सत्यताम्। दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः॥१००॥ इदं शतसहस्रं तु श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।

उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ॥१०१॥ चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् । उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ १०२ ॥

म० भा० आदि. अ. १

" श्रीकृष्णका माहात्म्य, पांडवोंकी सत्यनिष्ठा और धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुष्टता वर्णन की है । यह आद्य महाभारत है जो पुण्यकर्म करनेवालोंके उपाख्यानों के समेत एक लक्ष श्लोकोंका ग्रंथ भगवान् वेदव्यास ऋषिने बनाया । इसके पश्चात् चौवीस सहस्र श्लोकोंका ग्रंथ उपाख्यानोंको छोडकर बनाया, इसका नाम " भारत संहिता " है। इसके नंतर —

ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम् ॥१०५॥

म० भा० आदि० अ. १

" आगे वेदव्यास जीने संपूर्ण पर्व और वृत्तांतों को संक्षेपकर डेढ सौ श्लोकोंमें अनुक्रमणिकाध्याय को रचा । " इसकथन का तात्पर्य यह है कि —

(१) आद्य भारत अथवा महाभारत (उपाख्यानों के समेत) १००,००० श्लोक,

(२) भारत संहिता (उपाख्यानोंसे रहित) २४,००० श्लोक,

(३) संक्षिप्त भारत (अनुक्रमणिका) १५० श्लोक,

इस प्रकार पहिले (१) आदि भारत किंवा महाभारत, तत्पश्चात् (२) भारत, तत्पश्चात् (३) संक्षिप्त भारत ये तीन ग्रंथ एकही व्यास देवजीने लिखे ऐसा महाभारत के प्रथम अध्यायमें लिखा है। आश्वलायन गृह्यसूत्रके कथन के साथ यह विरोध है । उस सूत्रमें स्पष्ट कहा है कि, एक " भारताचार्य " है और दूसरा " महाभारताचार्य " है पहिले आचार्यने " भारत संहिता " लिखी और दूसरे आचार्यने उसका "महाभारत ग्रंथ" बना दिया । आश्वलायन सूत्रमें जो नाम आते हैं, वे कालानुरूप क्रमसे ही आते हैं,अर्थात् पूर्व कालका नाम प्रथम और पश्चात् कालका नाम पश्चात् आता है । इस लिये " भारताचार्य " प्राचीन और " महाभारताचार्य " अर्वाचीन स्पष्ट प्रतीत होते हैं। परंतु महाभारत के पूर्वोक्त श्लोकोंमें इससे उलटा कहा है, पहिले " आद्य महाभारत " पश्चात् " भारत संहिता " और तत्पश्चात् " संक्षिप्त भारत "। परंतु यह महाभारतका कथन भगवान् व्यासका लिखा न होनेके कारण प्रमाण वाक्य नहीं हो सकता। इससे आश्वलायन का आचार्य तर्पण का सूत्र अधिक प्रामाणिक है, क्यों कि आश्वलायन के समयकी परंपरा उसने लिखी है । अब

इसका अधिक विचार करनेके पूर्व हम और एक बातका यहां विचार करते हैं —

षष्टिं शतसहस्राणि चकाराऽन्यां स संहिताम् ॥ १०५ ॥ त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम् ॥ पित्र्ये पंचदश प्रोक्तं गंधर्वेषु चतुर्दश ॥ १०६ ॥ एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ॥ नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन् ॥ १०७ ॥ गंधर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ॥ अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशंपायन उक्तवान् ॥ १०८

म. भा. आदि. अ १

(१) साठ लक्ष श्लोकोंकी दूसरी एक संहिता उन्होंने रची थी, (२) उसके तीस लाख श्लोक देवलोकमें, (३) पंद्रह लाख पितृलोकमें, (४) चौदह लाख गंधर्व लोकमें और (५) एक लाख मनुष्य लोकमें रहे हैं । नारदजीने देवोंके राष्ट्रमें, असित देवलने पितरोंके देशमें, शुकदेवने गंधर्व यक्ष राक्षसोंके देशमें और इस मनुष्योंके देशमें वैशंपायननें कहे थे ।

ये श्लोक संभवतः भारत प्रशंसाके लिये भी लिखेगये हों, परंतु इसमें यदि कोई इतिहासिक सत्यता होगी, तो उसका तात्पर्य यह है कि उक्त चार देशोंमें चार आचार्यों ने महाभारतका संपादन किया था । (१) पहिले व्यास देवजीने जो भारत संहिता रची थी, (२) उसका उपाख्यानों के समेत वैशंपायन ने एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ बनाकर जनमेजय राजा को सुनाया । यह द्वितीय संपादन समझिये । (३) इसीको चौदह लाख श्लोकोंमें बढाकर शुकाचार्यने गंधर्व यक्ष और राक्षसों के देशमें तृतीय संस्करण संपादित किया । (४) इसीको और एकलाख श्लोक मिलाकर पंद्रह लाख श्लोकोंका बनाकर चतुर्थ संस्करण असित देवल ऋषिने पितृदेशमें प्रसिद्ध किया । (५) नारदने इसीका तीस लाख श्लोकों का बनाकर देवोंके देशमें पंचम संस्करण प्रसिद्ध किया ।

देवलोक तिब्बत है, पितृलोक मानस सरोवर और कैलासके आसपास है, गंधर्व लोक हिमालय की उतराई है, यक्ष लोक उसके नीचे, राक्षसलोक पश्चिमदिशामें और मनुष्यलोक यही भारत देश है यहां लोक शब्द देशवाचक वा राष्ट्रवाचक है ।

मूल व्यासका भारत उपाख्यानों के बिना जितना था उतना ही है । वह चोवीस हज़ार श्लोकोंका ग्रंथ है, उसमें उपाख्यानाकी भरती भरजानेसे उसीका लाख श्लोकोंका महाभारत बना और उसीमें अधिकाधिक उपाख्यानोंके भर जानेसे पूर्वोक्त पांच संस्करण से यह ग्रंथ बढगया । परंतु इस समय

व्यासकृत "भारत-संहिता कहीं भी उपलब्ध नहीं है और ना ही शुक, असित देवल, और नारद इनके संपादित ग्रंथ उपलब्ध हैं । इस समय यही एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ उपलब्ध है । अब देखना है कि यह जो इस समय एक लाख श्लोकोंका ग्रंथ है वह किसका बनाया है ;

यदि व्यास ही भारतके पहिले रचयिता हैं, तो उनका नाम आश्वलायन के कथनानुसार "भारताचार्य" ही है उपाख्यानों को छोडकर चौवीस हजार श्लोकोंकी भारतसंहिता इन्होंने रची ऐसा इससे स्पष्ट होता है । उपाख्यानों को मिलाकर इसी भारतसंहीता का "महाभारत" बनगया, तथा पूर्वोक्त देशोंकी विविध कथाएं मिलाकर पूर्वोक्त अन्यान्य ग्रंथ संपादित हुए । व्यासकृत मूल "भारत संहिता" के साथ उसका कोई संबंध नहीं है । इसके प्रमाण देखिये--

> मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे । तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५२॥
>
> म. भा. आदि. अ. १

(१) कोई कोई तो "नारायणं नमस्कृत्य" इस श्लोकसे ही (आदिपर्व अ.१ श्लोक १ से ही) महाभारतका प्रारंभ मानते हैं । (२) कोई कोई आस्तीक पर्व (आदिपर्व अ. १३) से महाभारत का प्रारंभ मानते हैं, तथा (३) कोई कोई तो राजा उपरिचर की कथा (आदि पर्व अ. ६३) से महाभारतका प्रारंभ मानते हैं ।

ये श्लोक व्यासमुनिने लिखे नहीं हो सकते, क्यों कि स्वयं लेखक ही "अपने ग्रंथका प्रारंभ तीन स्थानोंसे लोक मानते हैं" ऐसा कभी लिख नहीं सकता । यदि यह प्रथमाध्याय व्यास भगवान का लिखा होता, तो महाभारत के प्रारंभ स्थानोंका मतभेद वह कदापि नहीं लिखता। परंतु ये श्लोक-जिनमें कि महाभारतके प्रारंभके विषयमें संदेह व्यक्त किया है इस समयके महाभारतमें हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतके प्रारंभके अध्याय पीछेसे किसीने लिखकर मिलाये हैं। और इसी कारण पूर्व स्थलके श्लोक कि जिनमें एक लाख श्लोकोंका "आद्य महाभारत" व्यासका लिखा था (आदिप. श्लोक१०० से १०७ तक)" इत्यादि बातेंभी इस नूतन आधुनिक लेखक की ही प्रतीत होती हैं। इन श्लोकों में जो तीन प्रारंभ कहे हैं वे निम्न प्रकार हैं--

१ प्रारंभ पहिला-आदिपर्व अ० १ श्लोक १ से
२ " दूसरा -- " अ.१३ से
३ " तीसरा-- " अ.६३ से

जो महाभारत हमारे पास इस समय है वह जिस कालमें बना उस समय महा

भारतके प्रारंभिक श्लोकोंके विषयमें इतना मतभेद था!! परंतु प्रथम अध्यायका लेखक धोखेबाज नहीं था, इसलिये इसने अपने समय विद्वानोंमें जो मतभेद था, वह जैसाका वैसाही लिख रखा है। यदि आजकलके समान स्वमतका दुरभिमान उसमें होता, तो वह इन "तीनों प्रारंभ स्थलोंका उल्लेख" ही न करता। इसके इस विश्वास पात्रतासे इस समयके लोगभी बहुत बोध ले सकते हैं।

इन तीन प्रारंभोंकी उपपत्ति क्या है, वह देखनी चाहिये। इसलिये कथाकी घटना कैसी हुई यह देखना आवश्यक है।

(१) पहिले व्यासमुनिने भारत संहिता रची जो गणेश जीने लिखी,और व्यासनेही वैशंपायनादि शिष्योंको पढाई—

(२) वही कथा सर्पयज्ञमें व्यासशिष्य वैशंपायन ने राजा जनमेजय को सुनाई, इसी सत्रमें उग्रश्रवा सूत ने भी सुनी,—

(३) वही कथा नैमिषारण्यनिवासी शौनकादि ऋषियोंको उग्रश्रवा सूत ने सुनाई।

एकही भारतकथा तीन स्थानोंमें कहीगई। कहनेके समय सुननेवाले जो जो शंकाएं बीचबीचमें पूछते थे, उनका उत्तर देनाभी आवश्यक होता था, इसलिये प्रत्येक सुनानेके समय ग्रंथविस्तार बढता गया।

वास्तवमें यह तीन संपादकोंने संपादित किया ऐसाही समझना चाहिये। (१) पहिलीवार व्यासदेवजीने "भारत-संहिता" रची, (२) उसीका द्वितीयवार संपादन वैशंपायन ने किया, और उसीका (३) तृतीय संपादन उग्रश्रवा सूत ने किया। यह सबका तात्पर्य है।

१ भारतका पहिला संपादक-
भगवान्व्यासमुनि
प्रारंभ उपरिचरकथा अ० ६३

२ भारतका द्वितीय संपादक—
वैशम्पायन-
प्रारंभ आस्तीककथा अ० १३

३ महाभारतका तृतीय संपादक-
उग्रश्रवा-सूत—
प्रारंभ अनुक्रमणिका अ० १

इतने वर्णनसे यही सिद्ध हुआ। तीन प्रारंभ माननेका कारण यही है। पहिली भारतसंहिता जो व्यासमुनिकी रचीथी, उसका दूसरा नाम जय इतिहास अथवा दिग्विजयका इतिहास है देखिये।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत्॥२०॥
म० भा० आदि अ० ६२

इस इतिहासका नाम जय है, जय चाहनेवाले जनको इसे सुनना चाहिये। इसे सुननेसे राजा पृथ्वीको जयकर सकते हैं और शत्रुको हरा सकते हैं।

व्यासकृत भारतसंहिता का नाम

जय है, और इसका वर्णन व्यासकृत भारत प्रारंभ (अ० ६३) होनेके पूर्वही भूमिका अध्याय (अ ६२) में कहा है। अर्थात् अ० ६३से मूल भारतसंहिता किंवा "जय इतिहास" का प्रारंभ हुआ है। यह जय इतिहास व्यासकृत है । इसकी श्लोक संख्या करीब चौवीस हजार होगी

अ. ६२ के अंततकका भाग वैशंपायनने जनमेजय राजाके प्रश्नोंके उत्तर में कहा है इसलिये यह वैशंपायन का संपादित है। आस्तीक पर्वका प्रारंभ अ० १३ से होता है वहां से ही वैशम्पायन का भारत ग्रंथ प्रारंभ हुआ है। सर्प सत्रके साथ आस्तीक मुनिका संबंध है। इसीलिये इसके प्रारंभमें आस्तीक की कथा होनी आवश्यकही है ।

तृतीय संस्करण उग्रश्रवा सूत का संपादित किया हुआ है, जो इस समय का महाभारत है, इसीकी एक लाख श्लोक संख्या है।

तात्पर्य महाभारतका संपादन (१) व्यास, (२) वैशंपायन और (३) उग्रश्रवा इन तीन विद्वानोंके द्वारा हुआ। पहिला ग्रंथ व्यास कृत भारत संहिता किंवा "जय इतिहास" दूसरा ग्रंथ वैशंपायन कृत "भारत" और तीसरा ग्रंथ उग्रश्रवाकृत "महाभारत" है। तीनों संपादकों के कालोंमें ६ ई ८ शताब्दियोंका अवधि व्यतीत हुआ । पांडव कालमें व्यास मुनि, उनके पश्चात् जनमेजय के समय वैशंपायन, और सौतीका समय विक्रम संवत के कुछ पूर्व मानना योग्य है। यद्यपि सौति उग्रश्रवा को भी वैशंपायन के समकालीन बताया है, तथापि बुद्ध कालके पश्चात् की बातें भी इसी महाभारत में होनेसे अंतिम संपादक विक्रम सदी प्रारंभ होनेके कुछ पूर्व हुआ होगा , ऐसा ही मानना पडता है।

अस्तु इस प्रकार एकके संपादन से यह ग्रंथ बना नहीं है परंतु तीन कालके तीन विभिन्न संपादकोंने इसका संपादन किया है , यह बात यहां स्पष्ट होगई । अब इसमें इस कारण मिलावट हुई है वा नहीं, और मिलावट होगई होगी, तो उसका स्वरूप क्या है, इसका विचार करना चाहिये—
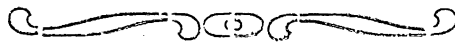
अनुक्रमणिकाध्याय में कही श्लोक संख्या.			गोपाळ नारायण०		गणपत कृष्णाजी०		कुंभकोणम्०	
पर्व०	अ०	श्लोक०	अ०	श्लोक०	अ०	श्लोक०	अ०	श्लो.क०
१ आदि०	२२७	८८८४	२३४	८६१९	२३४	८४६६	२६०	१०९९८
२ सभा०	७८	२५११	८१	२७१२	८१	२७०९	१०३	४३७७
३ वन०	२६९	११६६४	३१५	१०४९४	३१५	११८५४	३१५	१४०८१
४ विराट०	६७	२०५०	७२	२२७२	७२	२३२७	७८	३५७५
५ उद्योग०	१८६	६६९८	१९६	६५५९	१९६	६६१८	१९६	६७५०
६ भीष्म०	११७	५८८४	१२२	५९६९	१२२	५८१७	१२२	५९०८
७ द्रोण०	१७०	८९०९	२०२	९५७२	२०२	९५९३	२०३	१०१२७
८ कर्ण०	६९	४९६४	९६	४९६४	९६	४९८७	१०१	४९८६
९ शल्य०	५९	३२२०	६५	३६१८	६५	३६०८	६६	३५९४
१० सौप्तिक०	१८	८७०	१८	८०३	१८	८१०	१८	८१५
११ स्त्री०	२७	७७५	२७	८२५	२७	८२६	२७	८८७
१२ शांति०	३२९	१४७३२	३६५	१४९३८	३६६	१२७३२	३७५	१५१५३
१३ अनुशा०	१४६	८०००	१६८	७६३९	१६९	७८३९	२७४	१०९८३
१४ अश्वमे०	१०३	३३२०	९२	२७३६	९२	२८५२	११८	४५४३
१५आश्रमवा.	४२	१५०६	३९	२०८८	३९	१०८५	४१	१०९८
१६ मौसल०	८	३२०	८	२८७	८	२८७	९	३००
१७महाप्रस्था.	३	३२०	३	११०	३	१०९	३	१११
१८स्वर्गारोह०	५	२०९	६	३२०	६	३०७	६	३३७
कुलसंख्या	१९२३	८४८३६	२१०९	८४५२५	२१११	८३८२६	२३१५	९८५४५
१९ हरिवंश		१२०००	२६३	१५४८५		१२०००		१२०००
कुलसंख्या		९६८३६	२३७२	१०००१०		९५८२६		११०५४५

महाभारतमें मिलावट है वा नहीं ?

बहुत लोग कहते हैं कि महाभारत में पीछे से कई बातोंकी मिलावट हुई है, कई मनमानी बातें पीछे से घुसेड दी गई हैं; इस लिये इस विषयमें इस लेख में विचार करना है। साथ वाला कोष्टक देखनेसे पता लगता है कि महाभारतकी अध्याय संख्या निम्नप्रकार है—

		अध्याय संख्या	श्लोकसंख्या
१	अनुक्रमणिकाध्यायमें वर्णित ...	१९२३	८४,८३६
२	गोपाळ नारायण मुद्रित मुंबई महाभारत ...	२१०९	८४,५२५
३	गणपत कृष्णाजी मुद्रित मुंबई महाभारत ...	२१११	८३,८२६
४	कुंभकोणं प्रकाशित महाभारत	२३१५	९८,५४५

हरिवंशकी श्लोक संख्या मिलानेसे यह संख्या निम्न लिखित बनती है।

		महाभारत		हरिवंश		कुल श्लोक
१	अनुक्रमणिकाध्यायवर्णित ..	८४८३६	+	१२०००	=	९६८३६
२	गोपाल नारायण मुद्रित ...	८४५२५	+	१५४८५	=	१०००१०
३	गणपत कृष्णाजी ...	८३८२६	+	१२०००	=	९५८२६
४	कुंभकोणं प्रकाशित ...	९८५४५	+	१२०००	=	११०५४५

यह संख्या देखनेसे पता लगता है कि, इस समय उपलब्ध महाभारतके किसीभी पुस्तकमें एक लाख श्लोक नहीं हैं। अध्यायोंकी संख्यामें न्यूनाधिक हुआ है परंतु वह निःसंदेह लेखक का प्रमाद है। चूंकि श्लोकसंख्या अधिक नहीं हुई

है इसलिये अध्यायसंख्या बढ भी गई तो उसमें कोई विशेष हानि नहीं है। लेखक ने बडे अध्यायके दो दो तीन तीन टुकडे किये हैं और इस कारण अध्याय संख्या बढ गई है, तथापि श्लोक संख्या बढी नहीं है।

मुंबईमें गणपत कृष्णाजी मुद्रित महाभारतकी पुस्तक विशेष प्रामाणिक है, परंतु वह इस समय मिलतीही नहीं। उसी की करीब करीब प्रतिलिपी गोपालनारायण मुद्रित है। इनकी श्लोक संख्या बहुत अंशोंमें अनुक्रमणिका अध्यायसे मिलती है। कुंभकोणं प्रकाशित महाभारत मद्रासके ग्रंथोंके आधार पर प्रकाशित किया है, इस पुस्तकमें करीब चौदह हजार श्लोक अनुक्रमिणाध्यायसे अधिक हैं। उत्तरसे दक्षिणमें जाते जाते ये श्लोक बीचमें मिलगये यह बात स्पष्ट विदित होती है। इस कारण मद्रासका महाभारत विश्वासपात्र प्रतीत नहीं होता। मुंबई मुद्रित पुस्तक प्रायः न्यूनाधिक भेदसे एक जैसे ही हैं और श्लोक संख्यामें भी बहुत भिन्नता नहीं है, इसकारण मुंबई के पुस्तक अधिक प्रामाणिक हैं। और मुंबई मुद्रित पुस्तकोंकी श्लोकसंख्या अनुक्रमाणिकाध्यायसे बहुत अंशोंमें मिलतीभी है।

इतने बडे ग्रंथमें इतनी शताब्दियां व्यतीत होनेपर कुछ श्लोकसंख्यामें न्यूनाधिक होभी गया तो कोई बडा आश्चर्य नहीं है। हाथसे लिखनेके कारण तथा लेखकोंकी न्यूनाधिक योग्यता के कारण यह संख्या न्यूनाधिक होगई है। उक्त संख्या देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, अनुक्रमणिकाध्याय बनने के पश्चात्, गत दो सहस्र वर्षोंमें महाभारतकी कुल श्लोक संख्यामें बिलकुल मिलावट नहीं हुई, परंतु घटावट ही हुई है। देखिये—

	कुलश्लोक.	(न्यूनश्लोक)
१ अनुक्रमणिकाध्यायवर्णितश्लोक	८४८३६	(०)
२ गोपालनारायण मुद्रित श्लोक.....	८४५२५	(३११)
३ गणपत कृष्णाजी मुद्रित श्लोक....	८३८२६	(१०१०)

उक्त पुस्तकोंमें इतने श्लोक न्यून हैं। बढना और मिलावट तो दूर रही परंतु इनमें श्लोक कमही है।

श्लोक लिखनेमें भी कई दोष हैं। कई श्लोक तीन पंक्तियोंके हैं, तो कई एक पंक्ती के ही हैं। हमने दो पंक्तियोंके अर्थात् अनुष्टुप् ३२ अक्षरोंके छंदका एक श्लोक मानकर वैसा लिखनेका इस पुस्तकमें यत्न किया, परंतु उससे कई दोष उत्पन्न हुए, इसलिये यह प्रयत्न छोडकर जैसा है वैसाही मुद्रित करनेका निश्चय किया। इस प्रयत्न के कारण हमारे पुस्तकमें आदिपर्व की श्लोक संख्या ८७०९ होगई और अध्याय भी २३६ होगये।

गोपाल नारायण मुद्रित पुस्तक में जितने श्लोक हैं, उतनेही इस पुस्तक में हैं। परंतु श्लोक गिनतीका सुधार करनेका यत्न करनेके कारण कुछ संख्या बढगई। संभव है कि दो पंक्तियोंका एक श्लोक मानकर यदि गिना जाय तो इसी पुस्तकमें अनुक्रमणिकाध्यायकी श्लोकसंख्या ठीक मिल जायगी। परंतु वैसा करनेके लिये समय बडा चाहिये और तुलना भी करनेके लिये कई ग्रंथोंका पाठ देखना चाहिये। यह बडे परिश्रम का तथा बडे धन के व्ययका कार्य है।

इस समय औंध नरेश की प्रेरणासे पूना के " भांडारकर प्राचीन विद्या संशोधक संस्था " में महाभारत संशोधन का कार्य चल रहा है। कई लाख रुपये इसपर खर्च हो जायगे। कई विद्वान इस कार्य के लिये नियुक्त किये गए हैं। प्रतिमास सहस्रों रु० का व्यय हो रहा है। गत चार पांच वर्षोंसे कार्य चल रहा है, परंतु मुद्रण का प्रारंभ होनेके लिये अभी कई वर्ष चाहिये इससे पता लग सकता है कि महाभारत का संशोधन करनेका कार्य कितने बडे व्यय का है। उक्त कार्य के लिये कई लाख रु० का अंदाजा व्यय निश्चित किया गया है। हम सब इसी पुस्तक की ओर देख रहे हैं।

यह पुस्तक प्रसिद्ध होने तक हमारे मार्ग दर्शक पुस्तक मुंबई मुद्रित महाभारतके ग्रंथ ही हैं और इनमें श्लोक संख्या अनुक्रमणिकाध्याय में लिखित संख्यासे कम है, इस कारण प्रक्षिप्त श्लोक भी संभवतः नहीं होंगे अथवा होंगे तो कम होंगे।

इतना होने परभी कई विद्वान कहते ही हैं कि महाभारत में बहुत प्रक्षेप हुआ है, कई श्लोक पीछेसे मिलाये हैं अथवा जानबूझकर घुसेड दिये हैं। विचार करना चाहिये कि क्या यह बात सच है ?

कुछ श्लोक लेखकोंके प्रमादसे अंदर घुस गये हैं इसमें शंका नहीं, इतने बडे ग्रंथमें और इतने बडे कालमें यह होना स्वाभाविक ही है। परंतु जान बूझकर श्लोकोंका घुसेडना बडा दोष है, इस लिये इस का विचार अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे करना चाहिये।

हमने इससे पूर्व बताया ही है कि, महाभारत 'सर्वसार संग्रह ग्रंथ" (Ency-clopedia) है जो लोक सार संग्रह ग्रंथकी रचना जानते हैं, वेही महाभारतके महत्व को जान सकते हैं। अंग्रेजी भाषामें " ब्रिटनका सारसंग्रह ग्रंथ " (Encyclopedia Britanica) है। इसके इस समय ग्यारह वार मुद्रण हो चुके है। पहिले मुद्रणके समयका संपादक भिन्न था और ग्यारहवी वार का भिन्न है, बीचमें और भी कई संपादक हुए हैं। पाहिलीवार मुद्रित ब्रिटनकार

संग्रह ग्रंथ छोटा था और प्रतिवार बढते बढते ग्यारहवीं बारके मुद्रणके समय यह ग्रंथ बहुत ही बढ गया है। इसमें कई बातें नवीन मिलाई हैं और कई बातोंका अन्वेषण करके सुधारकर उनको ठीक करके लिखा गया है। पहिले ग्रंथमें और इस समयके ग्रंथमें जमीन असमानका भेद होगया है, तौभी सबलोग कहते हैं कि यह (Revised & enlarged Encyclopedia) "संशोधित तथा परिवर्धित सारसंग्रह ग्रंथ" है। कोईभी इसे यह नहीं कहता कि इसमें मिलावट हुई है अथवा इसमें यह घुसेडा है। परंतु सब इस नवीन परिवार्धित सारसंग्रह ग्रंथको पसंद करते हैं।

जो लोग इस अंग्रेजी परिवर्धित सार संग्रह ग्रंथको पसंद करते हैं वे ही मूल भारत संहिताके संशोधित और परिवार्धित तृतीय संस्करणको कहते हैं कि इस में घुसेडा है, इसमें प्रक्षिप्त भाग है!! यदि भारत और महाभारत "सार संग्रह ग्रंथ" है तो उसके द्वितीय और तृतीय संस्करणके समय उसमें कुछ अधिक बातोंको रखा गया तो गुन्हा किस रीतिसे हुआ? जो अपराध ब्रिटिश-सारसंग्रह ग्रंथमें नहीं होता, वही अपराध आर्योंके सारसंग्रहमें किस प्रकार समझा जाता है?

सबसे प्रथम व्यासमुनिने "भारत संहिता" किंवा "जय" नामक एक सारसंग्रह ग्रंथ किया। युरोपके सारसंग्रह-हमें और इसमें भेद इतना ही है कि युरोपके सारसंग्रह में रसहीनता होती है और इसमें सरसता है; क्यों कि यह काव्यकी रीतिसे लिखा है। और युरोपके ग्रंथ केवल संग्रहकी दृष्टिसे लिखे हैं। कौरव पांडवोंके इतिहास देते हुए व्यासदेव जीने अपने समयके सब शास्त्र इसमें ऐसी युक्तिसे लिखे हैं, कि पढनेवालोंका मनरंजन होते हुए, उनको सब शास्त्रोंका ज्ञान होवे। उदाहरणार्थ देखिये कि ग्रंथकारको भूगोल (Geometry) का वर्णन करना है, तो वह एक कथाप्रसंग लेता है कि अर्जुन यात्राके लिये गया और इस मिषसे वह उस समयके ग्रामों, नगरों पर्वतों और अन्यान्य दृश्योंका वर्णन करता है। ऐसे स्थानमें अर्जुनयात्राका वर्णन यह एक मिष है, मुख्य उद्देश्य उस समयका भूगोलवर्णन होता है इसी प्रकार नाना स्मृति, नाना धर्म और नाना मतोंका वर्णन महाभारतमें किया गया है। कोई ज्ञानी धर्मराजसे अथवा किसी दूसरेसे फलाना शास्त्र या सिद्धांत कहता है। इस प्रसंगसे यह अनुमान करना कि सचमुच धर्मराजको या किसीको वह बात अवश्यही कही गई थी, यह सरासर गलत है। ग्रंथकारको उस प्रसंगके वर्णनके मिषसे वह वर्णन वहां करना अभीष्ट है। जैसा कि दुर्योधन और भीमके गदायुद्धके प्रसंगमें बलराम आगये और

उस समय बलरामके यात्राके मिषसे सारस्वती तीर्थादिकोंका वर्णन वहां किया गया है। युद्ध प्रसंगकी दृष्टिसे यह वर्णन अप्रासंगिक है,परंतु "सारसंग्रहग्रंथ"की दृष्टिसे ग्रंथकारको उतना संबंध पर्याप्त है, क्यों कि उसको दुर्योधन भीमके युद्धका वर्णन करना मुख्य प्रयोजन नहीं है,परंतु परशुरामके निमित्तसे तीर्थोंका वर्णन करना अधिक अभीष्ट है।

इससे कोई यह न समझे कि महाभारतका इतिहास दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं है। इतिहासिक दृष्टिसे भी महाभारतका उतनाही महत्त्व है कि जितना सारसंग्रह ग्रंथ की दृष्टिसे इसका महत्त्व है। दोनोंका संमेलन महाभारतमें जैसा हुआ है वैसा जगतमें दूसरा कोई ग्रंथ है ही नहीं। इसलिये इसका निरीक्षण हम इतिहासिक दृष्टिसेभी कर सकते हैं तथा अन्यान्य दृष्टियोंसेभी कर सकते हैं। सर्वांगपूर्ण होनेसेही यह ग्रंथ मनुष्यकृत ग्रंथोंमें अद्वितीय ही है।

इतना इस महाभारतका सामान्य स्वरूप ध्यानमें धरके इसके तीनों संस्करणोंका विचार कीजिये—

१ प्रथम संस्करण=व्यासमुनिकृत "भारतसंहिता" प्रायः चौवीस हजार(२४०००)श्लोकोंका ग्रंथ। इसमें अर्जुनके दिग्विजय के इतिहासके साथ उस समयके शास्त्रोंका वर्णन था। कुछ महत्त्वके आख्यान भी होंगे। इसका नाम। "जय इतिहास" भी था।

२ द्वितीय संस्करण =(संशोधित तथा परिवर्धित)= वैशंपायन कृत "भारत" इसमें उपाख्यानोंका तथा इसके समयके शास्त्रोंका भी मिलान होगया।

३ तृतीय संस्करण=(संशोधित और संवर्धित) उग्रश्रवा सौति से "महाभारत" बनगया इसमें नानाशास्त्र और सैंकडों उपाख्यान इस संस्करण के समय मिलाये गये। इसी समय यह ग्रंथ एक लाख श्लोकोंका बनगया। विक्रम के पूर्व कुछ शताब्दी यह ग्रंथ तृतीय संस्करण से संस्कारित हुआ।

व्यास मुनिके समय जो धर्ममत तथा शास्त्र नहीं थे और जो वैशम्पायनके समय बने थे वे वैशंपायन ने उस में संमिलित किये। तथा उग्रश्रवा के समय जितने मतमतांतर तथा शास्त्र थे वे सब इस में उन्होंने संमिलित किये और अपना ग्रंथ संशोधन और परिवर्धन करके अपने समय तक पूर्ण किया। जिस प्रकार

ब्रिटिश सार संग्रह ग्रंथ (Encyclopedia Britanica) का ग्यारहवां संस्करण उसके छपने के समय तक परिपूर्ण करना उनके संपादक का कर्तव्य था, उसी प्रकार उग्रश्रवा का कर्तव्य था कि वह अपने समयतक इस "महाभातीय सार संग्रह ग्रंथ" को परिपूर्ण करे। उसको अपने कर्तव्यका पूर्ण ज्ञान था इस लिये ही उन्होंने अपने समय तक उसको परिपूर्ण किया। उग्रश्रवा के पश्चात् वैसा कोई विद्वान इस देशमें हुआ नहीं कि जो उसके पश्चात् के नाना शास्त्रों के सार को इस में संमिलित कर सकता और इसका चतुर्थ संस्करण तैयार करता। यह विद्या-हीनता की अवस्थाका दोष है।

उग्रश्रवाके समय परस्पर भिन्न मत इस देशमें प्रचलित थे, इसलिये उनका सार देते हुए भी उनकी परस्पर भिन्नता दर्शाकर उनका एकीकरण करनेका यत्न उग्रश्रवाने किया है। यह उग्रश्रवाका कौशल्य जो जानेगा, वही उसके अद्वितीय विद्वत्ताको जान सकता है। इस कारण ही यह महाभारत ग्रंथ राष्ट्रीय जीवनका आधार और सर्वमान्य ग्रंथ माना गया है, क्योंकि अनेक प्रभेदोंमें भी यह एकताका उपदेश करता है।

"सारसंग्रह ग्रंथ" राष्ट्रीय महाग्रंथ होता है। हरएक राष्ट्राभिमानी पुरुषको उसका अभिमान होता है, वह उससे राष्ट्रीयताका अमृतपान करता है। इसी प्रकारका यह महाभारत है।

इसी ढंगपर अग्नि पुराण, भविष्य पुराण आदि ग्रंथ लिखे गये थे। परंतु महाभारतकी योग्यता किसीभी ग्रंथको नहीं है। यदि लोग सार संग्रह ग्रंथ की दृष्टिसे इन ग्रंथोंकी ओर देखेंगे, तो ही उनको इस ग्रंथका महत्त्व ज्ञात हो सकता है और तभी उनको पता लग सकता है कि इनमें जो परस्पर विरोधी कथन हैं वे घुसेडे हुए नहीं हैं, परंतु नानाविध मत मतांतरोंका सार देनेके समय वे सब देना संपादक का कर्तव्य ही था। हरएक सार संग्रह ग्रंथ में ऐसाही हुआ करता है। अर्थात् यह महाभारत ग्रंथ संशोधित और परिवर्धित सार संग्रह ग्रंथका तृतीय संस्करण है।

इसमें जो लेखकोंके प्रमादसे अध्यायों की उलट पुलट होगई है, श्लोकों की हेरफेर हो गई है (और जो कई स्थानोंपर मिलावटभी हुई होगी, जैसीकी कुंभकोणं की मद्रासी महाभारतमें दिखाई देती है) वह सब अल्पज्ञ लेखक के कारण ही समझनी चाहिये। उस समय पत्रोंकी पोथियां होती थीं, पत्रे उलट पुलट लग जानेसे अध्याय आगेके पीछे और पीछेके आगे होने कोई बडी बात नहीं है। इसीप्रकार कई कारण हो सकते हैं कि जिसकारण श्लोकादिकोंमें हेरफेर होना संभव है।

एक लाख श्लोकों का ग्रंथ दो हजार वर्ष तक करीब जैसाका वैसाही रहा है,

जो भेद हुआ है वह अत्यंत अल्प है। यह सचमुच भारतीयोंके लिये भूषणरूप ही है। परंतु युरोपीयन लोक कुछ न कुछ कल्पना लिख मारते हैं और हमारे विद्वान उनको ही दुहराते हैं यह सचमुच हिंदुस्थानियोंकी मानसिक परतत्रता का ही द्योतक है। यदि हमारे लोक महाभारत आदिपर्वके पहिले ६२ अध्याय, जो महाभारत की भूमिकारूपही हैं, पढेंगे तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि, यह एक राष्ट्रीय सारसंग्रहग्रंथ है। जब यह कल्पना होगी, तब उनको इसमें परस्पर विरोधी कथनोंकी संगति समझनेमें कठिनता नहीं होगी। दृष्टिका कोन बदलना चाहिये। ग्रंथमें दोष नहीं है परंतु देखनेवालोंकी दृष्टि ही कलुषित है।

जिस ग्रंथसे उग्रश्रवाकी विद्वत्ता और बुद्धिकौशल्य का ज्ञान होना था, उसी ग्रंथकी ओर कई लोग विपरीत दृष्टिसे देखने लगे, इसलिये उसमें उनको परस्पर विरोध ही दिखाई दिया।

इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे इसको अपना " राष्ट्रीय महा ग्रंथ " समझें, दो हजार वर्षोंके पूर्व की स्थिति दर्शाने वाला यह " सारसंग्रह ग्रंथ " है ऐसा भी मानें, और पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व का राजकीय, समाजिक, धार्मिक "इतिहास का प्रामाणिक ग्रंथ" यह है, ऐसी कल्पना करें, और इस ग्रंथको पढें, तो ही इसके पढनेसे आनंद आवेगा। आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक पढेंगे।

५
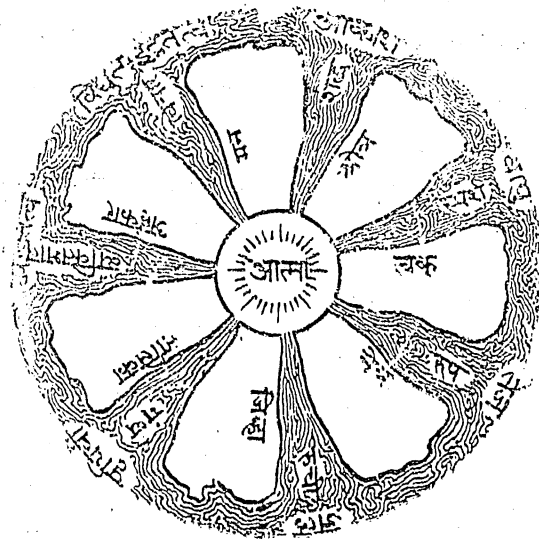
महाभारत का महत्त्व।

इससे पूर्व बताया जा चुका है, कि मुंबई, तथा बंगाल, युक्तप्रांत और पंजाब के महाभारत ग्रंथों में प्रक्षिप्त भाग बहुत नहीं है, और जो होगा, वह भी काल और ग्रंथविस्तार के विचार करनेपर उपेक्षणीय ही है, ऐसाही प्रतीत होता है। मद्रासके महाभारतमें हेरफेर और प्रक्षेप भी बहुत है, इसकारण मद्रासी महाभारत विश्वसनीय नहीं है। सारांशरूपसे इतना कहनेके पश्चात् एक शंका उत्पन्न होती है, वह यह है, कि तीन भिन्न समयोंमें तीन भिन्न विद्वानोंने जिसकी रचना की है, ऐसे महाभारतमें रचनापद्धति की समानता रही, इसविषयमें प्रमाण क्या है? इस विषयमें प्रमाण संपादकोंकी समान मनःप्रवृत्ति ही है। इस समय तक जगत् में कई संपादक हुए हैं परंतु ऐसा एकभी संपादक नहीं है, कि जिसने मूल ग्रंथकार के ग्रंथ को जानबूझ कर बिगाड दिया हो।

युरोपमें शताब्दीयोंके पूर्व बने हुए कोशोंके संशोधित और परिवर्धित संस्करण कई छपे हैं, सारसंग्रह ग्रन्थोंके भी संवर्धित संस्करण छपे हैं, परंतु किसी भी संपादक ने मूल पुस्तक के ढंगको बिगाडा नहीं है। भारतवर्षमें भी कई संपादकों ने मूल पुस्तक को बढाया है, परंतु उसीके ढंगपर बढाया है। सर्व साधारण विद्वान संपादक अपनी जिम्मेवारीको समझते ही हैं।

महाभारतके तीन संपादक भी असाधारण विद्वान और अपनी जिम्मेवारी समझनेवाले थे। श्री भगवान् वेदव्यास, वैशंपायन और उग्रश्रवा ये व्यक्तियां साधारण व्यक्तियां नहीं हैं। जो लोग ग्रंथ को स्वयं नहीं पढ सकते, अथवा इनके कार्यका गौरव नहीं अनुभव कर सकते, वे मर्जी चाहे लिखें, परंतु जिम्मेवार विद्वान उक्त तीनों विद्वानोंको दोषदृष्टि से देखही नहीं सकता।

भगवान् वेदव्यासजीने जिस ढंगसे पहिली भारत संहिता रची थी, उसी

ढंगसे वैशंपायनने बढाई और उसी रीतिसे उग्रश्रवाजीने भी बढाई होगी। इससे विपरीत माननेके लिये कोई भी प्रमाण नहीं है। यदि इसमें पद्धतिकी भिन्नता होती तो कोई भी प्राचीन ग्रंथकार महाभारत के विषयमें शंका उत्पन्न करता। परंतु गत दो तीन हजार वर्षोंके किसी भी ग्रंथकारने महाभारतके विषयमें ऐसी शंका नहीं लिखी है। परंतु प्रायः सभी प्राचीन विद्वान इसको प्रमाण ही मानते आये हैं।

महाभारतके सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री. नीलकंठ चतुर्धर स्वयं टीका करते हुए लिखते ही हैं, कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है, परंतु ऐसे स्थल गिनतीके हैं। और इतने बडे ग्रंथके विषयमें इतने बडे समय में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस कारण उक्त शंका निर्मूल है।

अब महाभारतके प्रामाणिक होनेके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती। यद्यपि इस महाभारतमें वर्णित कई बातें आजकल वैज्ञानिक ज्ञान बढ जानेसे अप्रामाणिक सिद्ध हो जायंगी, तथा तर्क की वृद्धी होनेके कारण कई बातें इस समय मानना अशक्य होगा; तथापि ये बातें ग्रंथके महत्त्वको न्यून नहीं करती हैं, इतना ही यहां बताना है। आगे विवेचनमें स्थान स्थानपर इसका विचार किया ही जायगा। अब इस महाभारत के सर्व साधारण महत्त्व का विचार करते हैं—

*

विभिन्न मतोंका एकीकरण।

शैव, वैष्णव, गाणपत्य, आदि अनंत मत मतांतर इस देशमें विक्रम संवत के पहिले हि शुरू हो चुके थे। इनका आपस में विलक्षण झगडा भी था। इनका एकीकरण करना उग्रश्रवाजीको अभीष्ट था। यह कार्य महाभारतमें उन्होंने बडी उत्तमतासे अपने तृतीय संस्करणमें करके बताया है।

भगवद्गीता में भी जैसा सांख्य योगादि, तथा कर्म उपासनादिका भी योग्य संगति लगाकर सबका संगतीकरण किया है, उसी प्रकार संपूर्ण महाभारतमें स्थान स्थानपर अनंत प्रकारोंसे यह एकीकरणका कार्य बडे चातुर्य के साथ किया है।

वैष्णवोंको विष्णु की श्रेष्ठता, शैवोंको शिवकी श्रेष्ठता तथा अन्यान्य मतवादियोंको अपने अपने प्रिय नामके देव की श्रेष्ठता अभीष्ट थी। इस से ही विविध झगडे समाज में खडे होगये थे। इन झगडों की निवृत्ति करके सबको एक धर्मबंधनसे बांधना उग्रश्रवाजीको अभीष्ट था। और यह कार्य इन्होंने अत्यंत उत्तम रीतिसे किया है।

वेदमें इंद्र वरुणादि विभिन्न देवताएं अनेक हैं, इन विभिन्न देवताओं में व्यापक एक अभिन्न आत्मा है और वह एक अद्वितीय आत्मा ही अन्य देवताओंके नाम धारण करता है, यह बात वेदमें बताई है —

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरु-

त्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ. १।१६४।४६

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव ॥ ऋ १० । ८२ । ३

"एक ही सद्वस्तुको ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे वर्णन करते हैं , एक देवको ही अग्नि, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं ॥ जो हमारा पिता उत्पादक और बनाने वाला है जो सब भुवनोंको जानता है वही एक देव सब अन्य देवोंके नाम धारण करता है ॥"

इन मंत्रोंसे देवता-नानात्व वाद हट जाता है । वेदमें अनेक देवताओं का वर्णन होते हुएभी एकही परमात्मा की कल्पना वेदमें है ऐसा हम कहते हैं, उसका परम आधार ये ही मंत्र हैं । ऐसे अनेक मंत्र हैं और वे बता रहे हैं कि वेदमें इंद्र वरुणादि अनेक देवताओंका वर्णन होते हुए भी सब देवताओंके वर्णनसे मिलकर एकही देवताका वर्णन होता है । यह वैदिक कल्पना महाभारत के तृतीय संस्करण के समय अर्थात् उग्रश्रवाजीके समय समूल नष्ट होचुकी थी । और प्रायः लोग समझने लगे थे, कि अपनी अपनी देवता ही सबसे श्रेष्ठ है । शैव शिवजीका महत्त्व और वैष्णव विष्णुका महत्त्व गाते रहे और परस्पर मत भेद होनेके कारण एक दूसरेका सिरभी फोडते रहे । आपस के इन क्षुद्र विवादके कारण विदेशी लोग हमारे राष्ट्रमें भी घुसने लगे थे । इस पतनकी अवस्थाको दूर करके सबको एकताके धर्म बंधनसे बांधना अति दुष्कर कार्य था । परंतु यह श्री. उग्रश्रवाजीने बडी चतुराईसे किया ।

पूर्वोक्त वैदिक सिद्धांत को ही आधुनिक ढांचेमें उग्रश्रवाने ढालदिया है । पूर्वोक्त वैदिक मंत्रके इंद्र मित्र वरुणादि विभिन्न नामों में एकही अभिन्न उपास्य देव रहता है, यह जिस ढंगसे कहा है; उसी ढंगसे शिव, विष्णु आदि देवताओं के अंदर एकही आभिन्न उपास्य देव है, इतनाही नहीं,प्रत्युत ये देव परस्पर के कारण पूर्ण होते हैं, शिवसे विष्णुका महत्व और विष्णुसे शिवका महत्त्व है, इत्यादि अनेक युक्ति और प्रयुक्ति से, भिन्न मतोंकी भिन्नता हटाकर उनका ऐक्य बनाया है ।

यहां उक्त एकही उदाहरण बताया है, परंतु ऐसे सैंकडों स्थल महाभारतमें हैं कि जहां , धर्म,देवत,पंथ,मत, मतांतर, उपासना, आचार आदिके कारण की भिन्नता हटाकर सबोंको एक ही सनातन वैदिक धर्मके बंधन से बांधकर एकत्रित करनेका प्रयत्न उग्रश्रवाजीने किया है । इतनाही नहीं, परंतु महाभारतके कारण ही सनातन धर्म का चातुर्वर्ण्य समाज जो बौद्धों और जैनादिकों के

विविध हमलों से पादाक्रांत और जर्जरित सा बनगया था, तथा अंतर्गत पंथभेदोंके कारण शतधा विदीर्ण बनगया था, यह एक "राष्ट्र पुरुष रूपी" अर्थात् ऐक्य भावसे युक्त बन गया और इसी महाभारत से नवजीवन प्राप्तकर के वह उत्तर कालमें जीवित और जागृत सा बना।

उग्रश्रवा का यह महान कार्य निःसंदेह अभिनंदनीय है। जो बात उस समय अशक्य सी थी, वही उग्रश्रवाने करके बतायी है। यह बात और है कि, उसके पश्चात् संचालन करने वाला कोई विद्वान नहीं आया, इस कारण फिर भी यह भारतीय लोग वैसे ही मत मतांतरोंके झगडोंमें फंस गये, परंतु यह गलती उग्रश्रवाजी की नहीं है यह दोष उसके पीछेका है। अस्तु। जिसने "भारत" का "महाभारत" बनाया, उसका यह प्रशंसनीय कार्य हरएकको देखने योग्य है। और उसका हृदयसे अभिनंदन करना आवश्यक है।

स्मृति शास्त्र और नीतिसंग्रह।

महाभारतमें अनेक नीतिशास्त्रोंका संग्रह है। विदुर नीति, कणिक नीति, नारदनीति, तथा अन्यान्य नीतियां अनेक हैं। प्रत्येक नीति शास्त्र एक स्वतंत्र पुस्तक है और उसका उद्देश भी बडा है। इन सब नीतिशास्त्रों का संग्रह इस महाभारतमें होनेके कारण इस महाभारतकी योग्यता विलक्षण बढ गई है।

कणिक नीति सम्राटोंका साम्राज्य बढानेका मत प्रदर्शित कर रही है, और विदुरनीति दीन प्रजाके समान अधिकारोंका साम्यवाद प्रदर्शित कर रही है। इसीप्रकार अन्यान्य नीतियोंके अन्यान्य ध्येय हैं। इन विविध ध्येयोंके विविध नीतिशास्त्रोंका संग्रह इस महाभारत में होनेके कारण यह महाभारत एक नीति शास्त्रोंका बडा समुद्र ही है।

धर्मशास्त्र अर्थात् स्मृतिशास्त्र भी इसमें स्थान स्थानपर भरपूर हैं। सनातन वैदिक धर्मके मूल तत्त्व स्मृतिशास्त्रमें व्यावहारिक रूप लेकर उपस्थित होते हैं। श्रुतिमें धर्मके सिद्धांतिक तत्त्व रहते हैं, परंतु उनका व्यावहारिक रूप स्मृतियोंमें होता है। ऐसे स्मृतिशास्त्रोंका संग्रह महाभारतमें होनेसे यह महाभारत एक बडा धर्मशास्त्र ग्रंथ हुआ है। इसी कारण इस की योग्यता स्मृतिशास्त्रके बराबर मानी जाती है।

श्रुति और स्मृतिका परस्पर संबंध तुलना करके देखना चाहिये। क्यों कि श्रुतिके सिद्धांतिक तत्त्व स्मृतिके विना व्यवहारमें प्रवृत्त नहीं होते, और स्मृतिभी श्रुतिके प्रमाण के विना निष्फल है। इस कारण दोनों की संगति देखनी अत्यावश्यक है। वेदका अध्ययन धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे करनेवालोंको इसी कारण महाभारतकी अपूर्व सहायता हो सकती है। इतनाही नहीं परंतु जो लोग स्मृति और

महाभारतको साथ न लेते हुए ही वेद का अध्ययन करनेका यत्न करेंगे, उनके यत्न उतने सफल नहीं होंगे, कि जितने दोनोंकी साथ साथ तुलना करनेसे हो सकते हैं। इसी लिये कहा है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। म.भारत.आदि अ.१।२६७

"इतिहास अर्थात् रामायण महाभारत तथा पुराणोंसे वेदका तत्त्व संवर्धित करना चाहिये।" दोनोंकी तुलना करनेसेही इसकी शक्यता हो सकती है!

तात्पर्य वेदका मर्म समझनेके लिये इस प्रकार महाभारतकी आवश्यकता है। इस लिये वैदिकधर्मका तत्त्व समझनेवाले पाठक महाभारतके पाठसे दूर न रहें, इतनाही यहां बताना है।

राष्ट्रीय महाकाव्य ग्रंथ।

अब राष्ट्रीय महाकाव्य ग्रंथ की दृष्टिसे महाभारतका महत्त्व देखेंगे। राष्ट्रीय महाकाव्य में निम्नलिखित लक्षण अवश्य होने चाहियें—

१ महाकाव्य राष्ट्रका आदरणीय ग्रंथ होना चाहिये,
२ राष्ट्रीय महाकाव्य में प्रारंभसे अंततक एकही प्रतिपाद्य विषय होना चाहिये,
३ सब काव्य द्वारा प्रतिपादित प्रसंग अत्यंत महत्त्व पूर्ण और राष्ट्रीय महत्त्वका होना चाहिये,
४ उस काव्यके वर्णित पुरुष श्रेष्ठ वर्णके और उदार चरित तथा धार्मिक दृष्टिसे आदरणीय होने चाहियें,
५ ग्रंथ की भाषा सुगम गंभीर और भावपूर्ण चाहिये, वृत्तभी सुगम और उत्तम चाहिये,
६ वर्णित प्रसंगोंमें विविधता चाहिये,
७ ग्रंथमें धवल यश फैलने का वर्णन चाहिये,
८ अंतमें सत्यका जय होना चाहिये,
९ कथाभाग पुराणा होनेपरभी उस की नवीनता सदा रहनी चाहिये,
१० राष्ट्रका शील संवर्धन करने और सभ्यताका आदर्श बतानेवाला मुख्य वर्णन होना चाहिये।

ये महाकाव्य के लक्षण होते हैं। ये सबके सब इस महाभारतमें घटते हैं। जगतमें जो जो राष्ट्रीय महाकाव्य हैं उनमें ये दशलक्षण पूर्णतासे सबके सब घटते नहीं हैं, परंतु केवल महाभारतमें ही ये दसों लक्षण पूर्णतासे घटते हैं। इसीलिये सब विद्वान इसी महाभारत को सच्चा राष्ट्रीय महाकाव्य कहते हैं और इसी हेतु से इस की प्रशंसा सब विद्वान करते हैं। देखिये—

१ महाभारत इस भारत खंडमें सर्वत्र आदरणीय है।
२ इसमें प्रारंभसे अंत तक कौरव पांडवोंका वर्णन यही ही प्रतिपाद्य विषय है।
३ कौरव पांडवोंका युद्ध प्रसंग यह

अत्यंत राष्ट्रीय महत्त्वका विषय इसका मुख्य प्रतिपाद्य और वर्णनीय विषय है।

४ इस काव्य में वर्णित, भीष्माचार्य, धर्मराज, श्रीकृष्ण, अर्जुन, कर्ण आदि अनेक उदारचरित महात्मे हैं और हरएक का जीवन आदर्शरूप ही है।

५ ग्रंथकी भाषा सुगम, गंभीर और भावपूर्ण है। वृत्तभी अत्यंत सरल और उत्कृष्ट हैं।

६ वर्णनोंकी विविधता तो महाभारत में स्थानस्थान में है।

७ पांडवोंका धवल यश फैलनेका वर्णन इसमें है।

८ अंतमें पांडवोंके सत्पक्षका ही जय दिखाया है।

९ महाभारतका वर्णन अत्यंत पुराना होनेपर भी नूतनसा आजभी प्रतीत होता है।

१० भारतवर्षका शील बढाने वाला तथा आर्य सभ्यता की रक्षा करने वाला यही महाभारत ग्रंथ है।

इसप्रकार राष्ट्रीय महाकाव्यके सबके सब लक्षण इस महाभारत में पूर्णतया संगत होते हैं। इसीलिये इस भारतवर्षका यह राष्ट्रीय महाकाव्य ग्रंथ है, इस में कोई संदेह ही नहीं है।

आर्योंके प्राचीन इतिहासमें भारतीय युद्धका महत्व अत्यंत है। राष्ट्रीय प्रगतिकी दृष्टिसे इसका महत्त्व अत्यंत है, क्यों कि आर्योंकी वैदिक सभ्यता इस समय पर्वतकी चोटीपर पहुंच चुकी थी। इसके पश्चात् इस सभ्यताका पतन शुरू होता है, वह पतन धीरेधीरे इस समयतक चलही रहा है। भारतीय राष्ट्रके इतिहासमें भारतीय युद्धके प्रसंगके समान महत्व पूर्ण दूसरा प्रसंगही नहीं है। यही प्रसंग इसमें मुख्य वर्णनका भाग है।

महाभारतमें अन्यान्य दृश्यही इतने मनोरम हैं कि जो अकेले अकेले अन्यान्य महाकाव्योंके विषय बने हैं। जैसा(१)भारवी कविका किरातार्जुनीय काव्य अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्राप्त होनेके प्रसंगका वर्णन कर रहा है। (२)माघ कविका शिशुपालवध काव्य शिशुपालके वधके वर्णनपर रचा है। (३) श्रीहर्षके नैषध काव्य का विषय नलदमयंती चरित्र ही है। इस प्रकार पंच महाकाव्योंमें से तीन महाकाव्य महाभारतके थोडेसे वर्णन परही रचे गये हैं। इससे स्पष्ट पता लग सकता है, कि महाभारतकी काव्य दृष्टिसेभी कितनी योग्यता है और यह इतना बडा ग्रंथ है, कि जिसके उपकथाओंको लेकरही एकएक महाकाव्य बन सकता है!!!

महाभारतके स्त्री और पुरुष, बाल वृद्ध और तरुण अवस्थाओंमें भी परम आदर्श बनने योग्य हैं। पांडवोंका प्रतिपक्षी सम्राट् दुर्योधन भी अपने साम्राज्य के लिये एक आदर्श साम्राज्यवदी

(Ideal Imperialist) ही है । जब महाभारतमें वर्णित बुरीसे बुरी व्यक्तिभी "साम्राज्यवाद" की दृष्टिसे आदर्श है, तो अन्यान्य व्यक्तियां भीष्माचार्य, द्रोणाचार्य, धर्मराज आदि भी आदर्श हैं इसमें संदेहही क्या है ? दुर्योधन के विषयमें बहुत बुरे विचार लोगों में फैले हैं, उनको महाभारतमें आधार बिलकुल नहीं है। राज्यशासन, राज्यवर्धन, राज्यरक्षण, धर्मयुद्ध के नियम पालन आदिमें दुर्योधन का एकभी दोष नहीं है। प्रजापालनमें भी उसका कोई दोष नहीं था। राजनीतिकी दृष्टिसे उसका आचरण भी दोषी नहीं था। अर्थात् महाभारत की दृष्टिसे उसमें आदर्श "साम्राज्यवाद की वीरता" देखनी चाहिये। एक ओर पृथ्वीका साम्राज्य और दूसरी ओर मृत्यु, इनके बीचकी मध्य अवस्था सुयोधन (दुर्योधन यह उसका सच्चा नाम भी नहीं था) सम्राट को पसंत ही नहीं थी। अस्तु इस प्रकार प्रतिपक्षी वीर के अंदरभी उच्च आदर्श जिस महाभारतकारने रखा है, उसकी बुद्धि की चतुराई हम क्या वर्णन कर सकते हैं?

प्रारंभसे अंततक बहुत ही अल्प प्रसंगों को छोड कर, सबके सब वर्णनके प्रसंग मुख्य कथा के साथ संबंध रखने वाले ही हैं। मुख्य कथा के साथ संबंध न रखनेवाले वर्णन बहुधा कहीं भी नहीं है। इतने बडे ग्रंथमें वर्णनोंका इतना परस्पर घनिष्ठ संबंध रखना सचमुच कवित्व के अद्भुत सामर्थ्य के विना हो ही नहीं सकता।

कौरव पांडवोंके समय जो जो छोटे और मोटे राजे इस भरतखंडमें थे, वे सबके सब इस युद्धमें संमिलित थे। लडनेवाले वीरोंकी संख्या १८ अक्षौहिणी अर्थात् बावन लाख थी, इन वीरोंको छोडकर इनके साथ रहनेवाले नौकर चाकर और इतने अथवा इससेभी अधिकभी होंगे। इस प्रकार भारतवर्षके हरएक प्रांतके वीर इस युद्धमें संमिलित थे। इसलिये इस युद्धके साथ संबंध भारत वर्षके हरएक प्रांतका था। इसीलिये भारतीय युद्धको राष्ट्रीय महायुद्ध कहते हैं। इस महायुद्धके वर्णनका प्रसंग इस महाभारतमें है, इसीलिये इसको "राष्ट्रीय ग्रंथ" कहते हैं। महाभारत सर्व मान्य राष्ट्रीय ग्रंथ होनेकाभी यही एक मुख्य कारण है, कि इस युद्धमें भारतके सब प्रांतोंके लोग संमिलित थे, इसीलिये हरएक प्रांतोंके लोग युद्धचरित्र पढनेके लिये उत्सुक ही थे। वह युद्ध चरित्र इस महाभारत ग्रंथ द्वारा मिलतेही इस ग्रंथकी सर्व मान्यता बढ गई। और भारतके सब प्रांतोंमें यह इतिहास प्रिय बन गया।

इस समय भारतवर्षके भिन्न प्रांतोंमें जो जो वीर जातियां हैं उनके पूर्वज वीर महाभारत कालमें भारतीय महायुद्धमें

संमिलित थे। इस लिये यह इतिहास अपने ही प्राचीन पूर्वजोंका इतिहास है। अतः इस दृष्टीसे इस ग्रंथ का इस समयभी राष्ट्रीय महत्त्व है।

इस विषयमें प्रसंगसे आगेभी अधिक वर्णन आनेवालाही है इसलिये इस विषय को यहां ही समाप्त करते हैं।

छःखूंटियावाला खुड्डी जिसपर दो स्त्रियां कपडा बुनती हैं। म.भारत आदि.अ. ३ । १४२

छः खूंटियोंवाला बडा चक्र ।

धौम्य मुनिके तीसरे ज्ञानी शिष्य वेद नामक थे। समावर्तन संस्कार होनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके अनंतर उस आचार्य वेदके पास भी कई शिष्य वेदाभ्यास के लिये आगये, उनमें एक अत्यंत सद्गुणी शिष्य उत्तंक नामसे प्रसिद्ध था। और इसीपर पूजनीय आचार्य जी का भी अत्यंत विश्वास था। एक समय सम्राट जनमेजय के घरके याजन कर्मके लिये जानेके कालमें आचार्य वेद जी ने अपने शिष्य उत्तंकसे कहा कि "हे उत्तंक! मैं चाहता हूं, कि मेरी अनुपस्थिति में मेरे घरमें जो कुछ अभाव हो, तुम उनको पूरा किया करो। इस प्रकार आज्ञा देकर आचार्य जी सम्राट के याज्ञिक कर्म के लिये चले गये।

यह समय ब्रह्मचारी उत्तंक की परीक्षा का था। उत्तंक के ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा निम्न प्रकार ली गई—

एक दिन उपाध्याय के घर की स्त्रियां एकत्र होकर उत्तंक को बुला कर बोली— " उत्तंक ! तुम्हारी उपाध्यायिनी ऋतुमती हुई है, तुम्हारे उपाध्याय भी घरमें नहीं हैं सो जिससे उनकी ऋतु खाली न जाय, तुम तिसका विधान करो। "

कितना कठोर प्रलोभन है! इस समय ब्रह्मचारी उत्तंक के सामने एक ओर सहज प्राप्त विषय सुख और दूसरी ओर ब्रह्मचर्यव्रत के भंगका तथा वैदिक "सप्त मर्यादा" के उल्लंघन का पातक उपस्थित था। दुर्बल मनुष्य कदाचित फंस भी जाता, परंतु उत्तंक बडा तपस्वी और नियम पालनमें दक्ष था, इस लिये उस ने तत्क्षण ही में कहा कि "मैं स्त्रियों की बात सुनकर ऐसा कुकर्म नहीं करूंगा, उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी, कि तुम कुकर्म भी करना।"

इस प्रकार ब्रह्मचारी उत्तंक के ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण परीक्षा होगई और वह उत्तम प्रकार इस कठोर परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ। ऐसे सद्गुणी ब्रह्मचारी पर कौन सा आचार्य प्रेम नहीं करेगा? आचार्य

वेदका भी प्रेम, इसी रीतिसे उत्तंकने आकर्षित किया था। स्वल्प कालके पश्चात् उत्तंक के समावर्तनका समय आया, उस समय "गुरु दक्षिणा" देने का विचार ब्रह्मचारी उत्तंकने अपने आचार्य जीसे कहा। आचार्य जी अत्यंत सत्व संपन्न होनेके कारण गुरु दक्षिणा लेना भी नहीं चाहते थे, परंतु आचार्य स्त्री प्रलोभन को जीत नहीं सकी थी।

प्रायः स्त्रियां सुंदर आभूषणों और सुंदर वस्त्रोंपर इतना प्रेम करती हैं, कि उनके सामने अन्य श्रेष्ठ विचार कोई मूल्य नहीं रखते। आजकल भी स्वदेशी खद्दर का प्रचार पुरुषोंमें है और स्त्रियां विदेशी सूतके कपडे पहनतीं हैं! स्वदेशी के प्रेमकी अपेक्षा नरम सुंदर वस्त्रका स्पर्श उनको अधिक प्यारा है। यही अवस्था पूर्वोक्त उपाध्यायिनी की थी। इस लिये उत्तंक से उपाध्यायिनी बोली " बेटा उत्तंक! राजा पौष्य के स्त्रीके धारण किये हुए दोनों कुंडल मांग लाओ। "

राजाके स्त्री के धारण किये हुए कुंडल लाना बडा कठिन कार्य था, परंतु विद्वान पुरुषार्थी उत्तंक घबरा नहीं गया। वह पौष्य राजाके पास पहुंचा और उसने अपनी विद्वत्ताके बलसे उक्त कुंडल प्राप्त किये। और उनको लेकर अपनी उपाध्यायिनी के पास आने लगा। इतनेमें मार्ग में एक सर्प जातीके नंगे साधुने किसी युक्तिसे पूर्वोक्त कुंडल चुराये और वह वेषधारी साधु भागने लगा। उत्तंक ब्रह्मचारी उसके पीछे दौडने लगे। जब पकडे जानेका समय आया, तब वेषधारी साधुने शीघ्रता से अपना वेष बदल कर भागना आरंभ किया। तथापि ब्रह्मचारी उसका पीछा करते ही रहे। अंतमें नाग लोगोंके देशमें ये दोनों पहुंचे, इतनेमें वह चोर किसी प्रकार गुम होगया और अपरिचित देश में अकेला ब्रह्मचारी उत्तंक असहाय अवस्थामें रह गया!! तथापि वह घबरा नहीं गया! वहां उसने देखा कि एक विलक्षण खुड्डी पर काले और श्वेत धागे ताने गये हैं, दो स्त्रियां कपडा बुन रहीं हैं, उस खुड्डीका बडा चक्र छः बालक घूमा रहे हैं, एक पुरुष सूत्र ठीक करनेके कार्य में दक्ष है और उनके पास एक सुंदर घोडा भी है। इसका वर्णन ब्रह्मचारी उत्तंक निम्न प्रकार करता है —

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्। चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १४६ ॥ तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयतस्तंतून्सततं वर्तयंत्यौ। कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १४७ ॥ वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता नमु-

चेर्निहन्ता । कृष्णे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥१४८॥ यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति । नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय लोकत्रयेशाय पुरंदराय ॥१४९॥

म०भा०आदि० अ०३

" इन चौबीस पर्वयुक्त स्थिर चक्रमें तीन सौ साठ तानें लगे हैं। इसको छः कुमार घुमा रहे हैं। विश्वरूपिणी दोनों युवती इस तानेमें श्वेत और काले सूत देकर सदा वस्त्र बनाती हुई संपूर्ण भूत और भुवनोंको घुमा रही हैं। जो एक महात्मा कृष्णवस्त्र पहननेवाला, वज्रधर, नमुचि और वृत्रका नाशक, भुवनरक्षक, तेजस्वी वैश्वानर अश्वका वाहन करनेवाला, त्रिलोक नाथ जगदीश्वर प्रभु है, उसको मैं नमन करता हूं।"

इसी प्रकार स्तुति करते ही उस पुरुषने कहा, कि "ए उत्तंक! तुम्हें क्या चाहिये।" ब्रह्मचारीने कहा, कि " यह सर्पजाती मेरे वशमें होवे।" पुरुष ने फिर कहा, कि "इस घोडेके मलद्वार में फूंको।"

घोडेका मलद्वार फूंकनेसे अग्नि बढने लगी, उसकी उष्णतासे सर्पोंका देश तप गया, सर्प घबरा गये और इस प्रकार त्रस्त होनेके बाद उसको सर्पोंसे कुंडल प्राप्त हुए। ब्रह्मचारीने उनको प्राप्त कर उपाध्यायिनी को दे दिये और गुरुदक्षिणा देनेके पश्चात् उसका आशीर्वाद लेकर, कुंडल चुरा कर इतना कष्ट देनेवाले सर्प तथा उसको आश्रय देनेवाली सर्प जाती का बदला लेनेके उद्देश्य से राजा जनमेजय के पास आगये। इन्हीं उत्तंक की प्रेरणासे उत्साहित होकर राजा जनमेजयने सर्प जातिके नाशके लिये सर्पयज्ञ किया, क्योंकि जनमेजयके पिता राजा परिक्षित का वधभी एक सर्पने ही किया था। इसलिये समदुःखी ब्राह्मण उत्तंक और समदुःखी क्षत्रिय जनमेजय की मित्रता हुई और ब्राह्मण क्षत्रियों के संयुक्त प्रयत्न से आर्यजातीको विविध रीतिसे कष्ट देने वाली सर्प जातीका नाश किया गया। (म.भा.आदि. अ.३)। इसी प्रकार जातीय संकट दूर करनेके लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको अपनी सब शक्ति इकट्ठी करनी चाहिये और उस संघटित शक्तिको राष्ट्रहितके कार्यमें लगाना चाहिये। वेद भी यही कहता है कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ
चरतः सह । तं लोकं पुण्यं
प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

य० २०।२५

" जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुल कर कार्य करते हैं, वही पुण्य देश है" आर्योंमें जिस समय तक ज्ञानी और शूर इस प्रकार मिलजुल कर जातीय उन्नतिके कार्य करते थे, उस समय तक ही

आर्य जाती की उन्नति थी । परंतु जब आपसमें फूट हुई और एक घरके भाई भाई ही आपसमें लड मरनेको तैयार हुए, तबसे आर्य जातीकी अधोगति शुरू होगई है । महाभारतके प्रारंभमें ही यह एकता के महत्त्व का दिव्य उपदेश मिलता है । जो जातीय और राष्ट्रीय उन्नति चाहने वालों को स्मरण रखना आवश्यक है। इस कथा से निम्न लिखित बोध मिल सकते हैं—

(१) विद्यार्थिधर्म = कितना भी प्रलो-भन आगया तो भी प्रलोभनों में फंसकर ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंकी उपेक्षा कदापि करनी नहीं चाहिये ।

(२) आचार्य धर्म = आचार्य ऐसा हो कि जो गुरुदक्षिणाका विचार भी मनमें न लावे और शिष्यको पूर्णतासे अप-नी विद्या अर्पण करे और सदा शिष्यका कल्याण ही चाहता रहे।

(३) स्त्रीधर्म=स्त्रियोंके आभूषण की प्रीतिके कारण विद्वानोंको भी कितने कष्ट होते हैं, यह देखकर स्त्रियां भी आभू-षणोंका अति प्रेम छोड दें और विद्या तथा राष्ट्रप्रेमसे सुभूषित होकर श्रेष्ठ माताएं बनने का प्रयत्न करें ।

(४) स्नातक धर्म=जिस आचार्य के पास से विद्या ग्रहण की है, उसको गुरुदक्षिणा देकर ही गुरुऋणसे मुक्त होना और गुरुके विषयमें उत्तम भक्ति सदा मनमें धारण करनी।

(५) राष्ट्र धर्म=अपने राष्ट्रको सदा कष्ट देनेवाली जो कोई जाती हो, उस जातीको परास्त करने के लिये राष्ट्रके सब लोग, विशेषतः ज्ञानी और शूरवीर मिल जुल कर ऐसा कार्य करें, कि विजातीके उपद्रव से होनेवाले सब कष्ट दूर हो जांय।

इतने बोध उक्त कथा में स्पष्ट हैं। महाभारत आदिपर्व के तीसरे अध्याय में यह कथा पाठक देखेंगे, तो उनको वहां उक्त बोध स्पष्ट रीतिसे मिल सकते हैं। अब कथामें जिस विशाल चक्रका वर्णन है उसका विचार करना है । वह चक्र, दो स्त्रियां, एक पुरुष, घोडा, छः कुमार, सूत और कपडा इन पदार्थों का जो वर्णन है वह किस वैदिक अलंकारका सूचक है, यह बात यहां देखनी है। इस विषय का स्पष्टीकरण होनेके लिये निम्न लिखित वेद मंत्र देखिये---

> पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति
> पुमान् वि तत्ने अधि नाके
> अस्मिन् । इमे मयूखा उप
> सेदुरू सदः सामानि चक्रु-
> स्तसराण्योतवे ॥

ऋ० १०।१३०।२

(पुमान्) पुरुष ([illegible] तनुते)इसको फैलाता है, (पुमान्) पुरुष पुनः (उत्कृ-णत्ति) [illegible] है, वह (अस्मिन् नाके अधि) इस आकाशमें भी (वितत्ने) विशेष फैलाता है । (इमे मयूखाः) ये खूंटियां (सदः उप सेदुः)कार्यके स्थान-

में हैं और (सामानि) सामोंको (ओतवे बुननेके लिये (तसराणि) धडाकियां बना लीं हैं ।

इस मंत्रमें सूत फैलाना, उसका ढेर लगाना, उसको इकट्ठा करना, संपूर्ण आकाशमें सूतका ताना फैलाना, कार्य के स्थानमें खूंटियां लगाना,और धडाकियोंसे बुननेका काम लेनेका वर्णन है । यह ऋग्वेदका मंत्र है । प्रायः ऋग्वेदके मंत्रमें संक्षेपसे वर्णन होता है, और अथर्ववेदमें उसका विशेष स्पष्टीकरण दिखाई देता है । इस लिये इसी वर्णन के अथर्ववेदके मंत्र देखिये—

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् । प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नापवृंजाते न गमाते अन्तम् ॥ ४२ ॥ तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात् । पुमानेनद्वयत्युद्गृणात्ति पुमानेनद्वि-जभाराधि नाके॥ अ. १०।७।४३॥

(एके) अकेली अकेली (वि-रूपे युवती) विरुद्ध रूपवाली दो स्त्रियां (षट्-मयूखं तंत्रं) छः खूंटियों वाले खुड्डीके पास (अभ्याक्रामन्) आती हैं और (वयतः) कपडा बुनती हैं । (अन्या) उनमेंसे एक (तंतून्) सूतों के (प्रतिरते) फैलाती है और (अन्या) दूसरी (धत्ते) रखती है । वे (न अपवृंजाते) तोडती नहीं और (अंतं न गमाते) कार्य समाप्त भी नहीं करती हैं । (अहं) मैं (तयोः परिनृत्यंत्योः इव) उन नाचने वाली जैसी स्त्रियोंमें (यतरा परस्तात्) कौनसी पाहिली है, यह (न वि जानामि) नहीं जानता । (पुमान्) एक पुरुष (एनत्) इसको (वयति) बुनता है, (पुमान्) पुरुष (उद्गृणात्ति) अलग करता है और (नाके अधि) विस्तृत आकाशमें (एनत् विजभार) इसको फैलाता है ॥

पाठक इन मंत्रोंमें देखें गे, तो उनको स्पष्ट रूपसे पता लग जायगा, कि ये अथर्व वेदके मंत्र न केवल ऋग्वेद के पूर्वोक्त मंत्रका स्पष्टीकरण कर रहे हैं, प्रत्युत महाभारतके वर्णनका भी वैदिक मूल बता रहे हैं!! इन मंत्रोंका विचार करनेसे महाभारत के कथन का स्वरूप निश्चित होता है और महाभारतके स्पष्टीकरणसे मंत्रोंके अर्थ निश्चित हो सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययनसे इस प्रकार हमें वेदार्थकी खोज करने के लिये लाभ हो सकते हैं। महाभारत और वेद मंत्रों की तुलना करने के पूर्व हमें और भी वेद मंत्र देखनेकी आवश्यकता है, वे पहिले यहां देखें गे। पहिले पूर्वोक्त मंत्रों में जो दो स्त्रियां कहीं हैं उनका स्वरूप वेद मंत्रों द्वारा देखना चाहिये, इस लिये निम्न मंत्र देखिये—

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं

पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती
देवानां देवं यजतः सुरुक्मे॥
य० २। ४१

साध्वपांसि सनता न उक्षिते
उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची
यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती
ऋ० २।३।६

(बृहती) बडी, (पयस्वती) रसयुक्त (सुदुघे) उत्तम दोहन देनेवाली (सुरुक्मे) सुंदर (उषासा नक्ता) उषा और सायं संध्या ये दो स्त्रियें (ततं) फैले हुए (तंतुं) सूतको (पेशसा) सुंदरता के साथ (संवयन्ती) उत्तम प्रकारसे बुनती हुई (देवानां देवं) देवोंके देव शूर इंद्रकी (यजतः) पूजा करती है। तथा-

(नः) हमारे (साधु अपांसि) उत्तम कर्मोंसे (सनता उक्षिते) सदा सुपूजित (उषासा नक्ता) उषा और सायंसंध्या वय्या इव) जुलाही के समान (रण्विते) प्रशंसित (सुदुघे पयस्वती) उत्तम दोहन होनेसे रस युक्त होकर (ततं तंतु) फैले हुए सूत्रको (यज्ञस्य पेशं) यज्ञके सुंदर वस्त्रको (समीची संवयन्ती) उत्तम प्रकार बुनती हैं।

इस दोनों मंत्रोंमें " उषासा नक्ता " अर्थात् "उषःकाल " और " सायंकाल" इन दो समयोंको दो स्त्रियों का रूपक देकर काव्यमय वर्णन किया है। " उषा और नक्ता" ये दो ही स्त्रियां हैं जो ऊपरके मंत्रों में तथा महाभारतके वर्णन में वर्णित हैं। " उषा स्त्री" दिनभर श्वेत रंगका कपडा बुनती है और "नक्ता स्त्री" रातभर काले रंगका कपडा बुनती रहती है। एकके पीछे एक आकर अपना अपना कार्य करती है, परंतु किसीका भी कार्य समाप्त नहीं होता। क्यों कि दिनके पीछे रात्री और रात्रीके पश्चात् दिन आता है और यह क्रम कभी समाप्त होने वाला नहीं है।

दिन और रात्री का समय ही श्वेत और काला वस्त्र है, यह अलंकार मानने पर सूर्यके कारण उत्पन्न होनेवाले कालके सूक्ष्म अवयव सूत है, यह बात स्पष्ट होती है। काल रूपी यह सूत्र सूर्यरूपी गोल चर्खेपर देवोंका देव इंद्र भगवान् कात रहा है और उस सूत्रको लेकर उषा और नक्ता ये दो स्त्रियां कपडा बुन रहीं हैं।

"छह खूंटीयोंवाली खुड्डी पर यह बुननेका कार्य चल रहा है। छः खूंटियां छः ऋतुओंका समय है, इन खूंटियोंको घुमानेवाले छःऋतु हैं। तथा जिस खुड्डी पर यह समयका कपडा बुना जाता है, वह संवत्सर है। जो पुरुष है वह देवाधिदेव ईश्वर है और जो उसका वाहन अश्वरूपसे वर्णन किया है वह आग्नेय तत्त्व है।" इस प्रकार यह संवत्सर कालचक्रका वर्णन है। इसका विचार

करनेके लिये निम्न लिखित वेदमंत्र देखने योग्य हैं । इनका विचार करने से संपूर्ण अलंकार स्पष्ट रीतिसे खुल जाता है ।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
ऋ. १।१६४।४८

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ अ० १०।८।४

बारह (प्रधयः) परिधि हैं, जिनका एक ही चक्र है,तीन (नभ्यानि) नाभी हैं, (कः) कौन (तत्) उस चक्रको (चिकेत) जानता है ? (तस्मिन्) उस चक्र में (साकं)साथ साथ (त्रिशताः षष्टिः) तीन सौ साठ (शंकवः) खील (अर्पिताः) रखे हैं, जो ढीले नहीं हैं !

(१) एक चक्र, कालचक्र, संवत्सर (२) उनके तीन नाभी तीन काल हैं, गर्मी का समय, वृष्टिका समय और शीतका समय (३) बारह परिधि बारह महिने हैं, (४) तीनसौ साठ शंकु वर्षके तीन सौ साठ दिन हैं । इसप्रकार यह कालचक्र चल रहा है । इसी का वर्णन और देखिये—

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य । आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ११ पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥ पंचारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा । तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥ १३ ॥

ऋ १।१६४।अ. ९।१४

(द्वादशारं) बारह आरों वाला एक चक्र (ऋतस्य द्यां) ऋतके द्युलोकके चारों ओर (परि वर्वर्ति) घूमता है, परंतु (तत्) वह चक्र (नहि जराय) क्षीण नहीं होता है । हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (सप्त शतानि विंशतिः) सातसौ वीस (मिथुनासः पुत्राः) जुडे हुए बालक उसमें (आ तस्थुः) रहे हैं ।

(पंचपादं) पांच पांववाले (द्वादशाकृतिं) बारह आकृतियोंसे युक्त (दिवः पितरं)द्युलोक के पिताको (परे अर्धे पुरीषिणं) दूसरे अर्ध भागमें जल उत्पन्न करनेवाला (आहुः) कहते हैं । (इमे अन्ये) ये दूसरे विद्वान (आहुः) कहते हैं कि वह (सप्त चक्रे) सात चक्रोंसे युक्त (षडरे) छह आरोंवाले रथमें (अर्पितं) रहता है ।

(विश्वा भुवनानि) संपूर्ण भुवन (तस्मिन् परिवर्तमाने) उस घूमनेवाले

पंचारे चक्रे) पांच आरोंवाले चक्रमें (आ तस्थुः) रहते हैं । (तस्य) उस चक्रका (भूरिभारः अक्षः) बहुत बोझवाला अक्ष (न तप्यते) नहीं तप जाता (स-नाभिः) नाभिके साथ वह (सनादेव) सनातन कालसे कार्य चलानेपर भी (न शीर्यते) क्षीण नहीं होता ।

इस वर्णनके साथ निम्न लिखित मंत्र देखिये —

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिं-
शदराः संवत्सरो यस्मान्नि-
र्मितो द्वादशारः।

अ. ४।३५।४।

(यस्मात्)जिससे (त्रिंशत् अराः) तीस आरोंवाले (मासाः)महिने निर्माण किये हैं, तथा जिससे (द्वादशारः) बारह आरोंवाला (संवत्सरः) वर्ष बनाया है ।

ये मंत्र हैं कि जो पूर्वोक्त रूपक का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । इन मंत्रोंके पदों के संकेत ये हैं—

(१)द्वादशार, द्वादशाकृति बारह महिने
(२)पंचार पंचपाद = पांच ऋतु ।
(३)षडर, षळर = छः ऋतु ।
(४)सप्तार = सात ऋतु ।
(५)त्रिंशदर = तीस दिन का एक मास
(६) सप्तशतानि विंशतिः मिथुनासः पुत्राः ॥ सातसौ वीस जुडे हुए पुत्र । वर्ष के दिन ३६०, प्रतिदिन दिवस और रात्री ये दो जुडे पुत्र होते हैं,इस हिसाब से वर्षके ७२० होते हैं। ३६०×२=७२०
(७) परे अर्धे पुरीषिन् = द्वितीय अर्ध में जलकी वृष्टि करने वाला वर्ष । वर्ष में छः मास वृष्टिके बिना और दुसरे छः मास वृष्टिके साथ होते हैं ।

ये सब सांकेतिक शब्द देखनेसे पता लगता है, कि यह वर्णन संवत्सर का ही है। इस वर्णन के साथ पूर्वोक्त महाभारत की कथाका "छह खूंटियों वाले चक्र" का वर्णन देखिये तो उसी समय पता लग जायगा, कि महाभारत का वर्णन इन वैदिक मंत्रोंके आधार से ही लिखा है । अथवा यों कहिये कि इन मंत्रोंका आशय सुबोध रीतिसे समझाने के उद्देश्यसे ही वह वर्णन वहां दिया है । वेद मंत्रोंके शब्द ले ले करके ही उक्त श्लोक महाभारत में रचे गये हैं, इसका अनुभव पाठक ही करें। जो महाभारतके श्लोकों में आये हुए शब्द ऊपर दिये मंत्रों में नहीं हैं, वे इंद्र सूक्तों में अन्यत्र हैं, यहां विस्तार भयके कारण सब मंत्र देना उचित नहीं समझा है ।

एक बात जो महाभारत में वर्णित है परंतु वेद मंत्रोंमें हमारे देखनेमें नहीं आई, वह यह है कि " छः कुमार उस कालचक्रको घुमा रहे हैं।" संभवतः किसी स्थानपर यह बात वेद में होगी अथवा न होगी, परंतु हमने परिश्रम करने पर-भी अभीतक पाई नहीं है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

"कुमार" शब्दका अर्थ साधारणतया

बालक है। अग्नि भी उसका अर्थ होता है। (कुं पृथ्वीं आरयति) पृथ्वीके चलाने-का हेतु जो है,उसको भी कुमार (कुं×आर) कहते हैं, और यही अर्थ यहां अभिप्रेत है। छः ऋतु ये संवत्सर के छः कुमार हैं, जो संवत्सर चक्रमें परिवर्तन करते हैं, यह बात अनुभव सिद्ध है।

इस रीतिसे हमने महाभारतके वर्णन की तुलना वेद के साथ की है अब इस वर्णन का स्पष्टीकरण जो स्वयं महाभारत में दिया है वह भी यहां देखिये—

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च कृष्णाः सिताश्च तंतवस्ते रात्र्यहनी यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेऽपि षड़तवः संवत्सरचक्रम् १६६॥ यःपुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वःसोऽग्निः०॥

महाभा. आदि. ३। १६७॥

धाता और विधाता ये दो स्त्रियां हैं, श्वेत और काले धागे दिन और रात्री का समय है, बारह आरों वाला चक्र जो छःकुमारोंद्वारा घुमाया जाता है वह संवत्सर चक्र है और घुमानेवाले छःऋतु हैं, जो पुरुष है वह पर्जन्य है और जो अश्व है वह अग्नि है।

इस कथामें कई अन्य बातें हैं जो यहां स्थलाभावसे नहीं दीं हैं, परंतु उनका विचार इन मंत्रोंके विचार से हो सकता है। इस महाभारतीय स्पष्टीकरणमें ऐसा कहा है कि " धाता और विधाता " ये दो स्त्रियां हैं, और मंत्रोंमें " उषा और नक्ता" ये दो स्त्रियां होनेका वर्णन है। इस विषयमें यहां इतनाही कहना पर्याप्त है कि "उषःकाल और सायंकाल " का ही दूसरा नाम क्रमशः " धाता और विधाता" है। इन शब्दोंके अन्य अर्थ हैं, परंतु इस कथा प्रसंगमें ये ही इनके अर्थ हैं।

" धाता, विधाता" नामोंके प्रयोग-से, कई कथाएं पुराणोंमें वर्णित हैं उन-कथाओंका मूल वेदमें " उषा और नक्ता" शब्दोंके देखनेसे मिल सकता है, यह लाभ इस ढंगसे की हुई तुलना से होता है।

परंतु कई पाठक यहां पूछेंगे कि "इस प्रकार लिखे संवत्सर चक्रके वर्णनसे हमें क्या लाभ है? यह वर्णन वेद में हो अथवा किसी अन्य ग्रंथमें हो।" प्रश्न ठीक है और इसीलिये इसका उत्तर यहां देना चाहिये।

यदि उक्त वर्णन केवल कालचक्रका ही है, तो काव्यरसास्वादको छोडकर किसीभी प्रकारका अन्य लाभ उससे होना संभव नहीं है। परंतु वेद मंत्रकी बातों में विशेष गूढता रहती है,इसका अनुभव कई बार पाठकों को हो चुका है। वह गूढता अध्यात्म विषय की है। जो वर्णन इस समयतक बाह्य काल के विषय में हम देख रहे थे, वही अब अंदर के

प्राणचक्र के विषयमें देखनेसे वैदिक गूढ आशयका पता लग जायगा। देखिये, एक एक पूर्वोक्त तत्वका अध्यात्ममें संबंध कैसा है—

(१) ३६० शंकु=३६०खील = शरीर की ३६० हड्डियां। "अस्थीनि च ह वै त्रीणि शतानि षष्टिश्च "गर्भउप०५॥" षष्टिश्च ह वै त्रीणि शतानि पुरुषस्यास्थीनि।" शत०ब्रा० १०।५।४।१२॥ (मनुष्यके देह में ३६० हड्डियां हैं।)

(२) ७२० मिथुन पुत्र=(३६० दिन और ३६० रात्री मिलकर ७२० पुत्र होते हैं) ३६० हड्डियां ऊपर दिनोंके स्थान में बता दीं हैं। रात्री के स्थानमें ३६० मज्जाकेंद्र समझे जाते हैं। 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्य मज्जानः।" शत.ब्रा० १०।५।४।१२ ॥ हड्डियां और मज्जाकेंद्र दोनों मिलकर ७२० होते हैं। ३६०+३६० = ७२०

(३) एक चक्र - मुख्य प्राणचक्र।

(४) छः कुमार = छह ऋतु।(१) जन्म (२) अस्तित्व, (३) वृद्धि (४) मध्यावस्था, (५) परिणतावस्था, (६) नाश ये मानवी जन्ममें छः अवस्थाएं ऋतु हैं।

(५) दो स्त्रियां = मति और प्रमति (बोध और प्रतिबोध। ज्ञान और विज्ञान)

(६) कृष्ण और श्वेत तंतु = अपान और प्राण (मारक और तारक शक्ति, जो शरीरमें कार्य कर रही है।)

(७) पुरुष = पुरुष, चैतन्य। वैद्युतशक्ति जीवनाविद्युत्।

(८) अश्व = अग्नि। शरीरकी उष्णता, जो प्राणके श्वासोच्छ्वासके कारण रहती है। (पूर्वोक्त उत्तंक की कथामें घोडेका मलद्वार फूंकनेसे गर्मी बढनेका वर्णन है) प्राणायाम से शरीरमें उष्णता बढ जाती है, यह अनुभव है।

(९) बारह परिधि = दस इंद्रियां, मन और आत्मिक तेज मिलकर बारह परिधिहैं। "मन एकादशं तेजो द्वादशं।" गर्भ उ. ५॥" द्वादशार, द्वादशाकृति" आदि शब्दका भाव यही है।

(१०) तीन नाभि = उर, सिर और कंठ स्थानके तीन मुख्य केंद्र।

(११) पंचपाद (पांच पांव) - पंच प्राणोंके केंद्र।

(१२) षडर = षट्चक्रनामक मज्जाकेंद्र
जो पृष्ठ ांशमें हैं।

(१३) सहार = दो आंख, दो कान, दो
नाक और एक मुख।
" सप्तर्षि " आदि शब्द इसी
के वाचक हैं।

बाह्य वर्णन में और आंतरिक अध्यात्मके वर्णनमें किस रीतिसे एक रूपता देखनी चाहिये, इस विषयमें शतपथ ब्राह्मण में स्थान स्थान पर अनेक संकेत हैं। उनके अनुसंधान से उक्त स्पष्टीकरण दिया है। पाठक भी इसका अधिक विचार करें।

अध्यात्मका वर्णन अपने अंदर देखना होता है। पूर्वोक्त वर्णन इस ढंगसे अपने अंदर देखकर अपने अंदर का सामर्थ्य पहिले जानना और योगादि साधनोंद्वारा उसका अनुभव करना चाहिये।

इसीलिये वेद और उपनिषदों में स्थान स्थानमें अध्यात्म उपदेश दिया है।

अपने अंदर प्राणशक्ति किस प्रकार कार्य कर रही है, विषैले सर्प कौन हैं और उनका नाश किस प्रकार हो रहा है, यह सब विषय यहां देखना चाहिये। परंतु यह स्पष्टीकरण किसी अन्य लेखमें विस्तार से किया जायगा।

इस लेखमें महाभारत की कथा और उसका वेद मंत्रोंसे संबंध बताया है। आगे विचार करनेके लिये जो साधन यहां उपस्थित किये हैं, उनको लेकर यदि पाठक भी अधिक खोज करेंगे, तो बडा ही कार्य होसकता है।

अस्तु इस लेख मालामें क्रमशः यही विचार होता रहेगा।

विवाहके समय राष्ट्रीयताका विचार ।

(१) सार्व भौमिक शिक्षा ।

महाभारत की शिक्षा सार्वभौमिक है । इस ग्रंथसे सामाजिक, राजकीय, नैतिक, आदि सब बातोंकी शिक्षा मिल सकती है । मानवजातीका सामाजिक इतिहास ही इस ग्रंथमें मिलता है, यहां तक दूर दूर की बातें इस ग्रंथमें विद्यमान हैं, कि जो मध्य एशिया, युरोप अमेरिका और उत्तर ध्रुवके विविध स्थानोंके साथ संबंध रखतीं हैं । यह सब वर्णन अत्यंत मनोरंजक है और इस लेख-मालामें इसका क्रमशः उल्लेख होगा ।

(२) लो० तिलकका मत ।

चिरस्मरणीय लोकमान्य महात्मा तिलक महोदयजी वारंवार कहा करते थे कि, "महाभारत ग्रंथ अत्यंत महत्व पूर्ण है। इसमें धर्मराजाकी सत्यनिष्ठा, कर्ण की उदारता, भीमका बाहुबल, अर्जुनका युद्ध कौशल इत्यादि अनेक अवर्णनीय गुणोंसे युक्त वीरोंका वर्णन है और इन वीरोंका चरित्र पठनीय तथा मननीय है। तथापि उन सबोंमें भीष्मपितामह का दृढ निश्चय और श्रीकृष्णचंद्रका राजनीति-पटुत्व विलक्षण महत्त्व रखता है । इनके सामने अन्योंके अन्यान्य गुण फीके हैं । इस लिये नव युवकों को मेरा यही कहना है कि वे महाभारतका अध्ययन अवश्य ही करें, और भीष्मपितामहका दृढ निश्चय तथा श्रीकृष्णचंद्रजीका राजनीति-पटुत्व अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करें ।"

(तिलस्मरण. पृ.१४७)

महात्मा तिलक महोदय जीने स्वयं कईवार महाभारतका अध्ययन किया था और प्रायः वे प्रतिदिन महाभारतका पाठ थोडा या अधिक किया करते थे । इस लिये उनके मित्र कहा करते हैं कि स्वयं लोकमान्य तिलक महोदय जीने महाभारतका पाठ वारंवार कर करके, अपने सामने भीष्मपितामह और श्रीकृष्णभगवान् ये ही दो आदर्श रखे थे, इसी कारण लोकमान्य जीका जीवनभी उनके समान ही बन

गया !!

(३) मिश्रित विवाह ।

अस्तु इस प्रकार महाभारतकी अपूर्वता सर्वमान्य है और विशेष कर यह ग्रंथ तरुणोंको अवश्यही पढना चाहिये । आज इस लेखमें तरुणोंके उपयोगी एक विचार को प्रस्तुत करना चाहते हैं। तरुण विद्या प्राप्त करने और धन कमानेका प्रारंभ करनेके पश्चात् स्त्रीप्राप्त करनेकी अर्थात् विवाह करनेकी इच्छा करते हैं। इस समय वे प्रायः बाह्य दिखावट की बातों पर ही ध्यान देते हैं, कई तरुण यूरोप और अमेरिकामें जाकर वहां की तरुण युवतियोंके साथ भी अपना प्रेम संबंध जमाते हैं ।

इस प्रकारके मिश्रविवाह आज कई हो गये हैं । कई विद्वान इन मिश्र विवाहों को बडा पसंद करते हैं । परंतु कई इनको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं । हमारे प्राचीन ग्रंथ इस विषयमें क्या संमति देते हैं, यह इस लेखमें देखना है । रामायण महाभारत के जो ग्रंथकार थे, उनकी दृष्टि जितनी दूर पहुंचती थी, उतना दृष्टिका विस्तार हमारा नहीं है । इस लिये उक्त ग्रंथोंका इस विषयमें उपदेश क्या है, यह यहां देखेंगे ।

(४) धर्मशास्त्र और काव्य ।

उपदेश देखनेके समय यह बात अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये, कि भिन्न भिन्न ग्रंथोंसे उपदेश लेनेका प्रकार भिन्न भिन्न ही है । जैसा – (१) कानून के ग्रंथमें " चोरी मत कर " ऐसा लिखा नहीं होता, परंतु चोरी करने पर यह दंड होगा, ऐसा लिखा होता है । इससे बोध मिलता है, कि चोरी करना ठीक नहीं । (२) स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र में लिखा होता है कि " चोरी करना बडा पाप है । " इस से भी वही बोध होता है । (३) काव्य ग्रंथोंमें किसी कथा प्रसंगसे बताया होता है कि चोरी करनेसे किसी व्यक्ति विशेष की कैसी हानि हुई । इससेभी बोध वही होता है । रामायण महाभारत ये दोनों बडे भारी काव्य ग्रंथ हैं, इस लिये काव्यग्रंथों से उपदेश लेनेकी विधिसे ही इनसे बोध लेना उचित है । विवाह करनेके समय राष्ट्रीयता का विचार न रखनेसे किस प्रकार हानि अर्थात् अपने राष्ट्रकी हानि होती है, यह बात उक्त काव्य ग्रंथोंमें लिखी है, यही बातें इस लेखमें बतानी हैं । इससे पूर्व वेदमंत्रोंका उपदेश इस विषयमें देखिये-

(५) राष्ट्रके साथ बढने का उपदेश ।

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः। जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥ अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् । रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्त.म-

नुपाक्षितौ ॥२॥ त्वष्टा जायामजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम् । त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

अथर्व. ६।७८

उस (भृतेन हविषा) सुसंकृत अन्नसे यह पति पुनः (आ प्यायतां) बढे। (अस्मै) इन पतिको जो (जायां) पत्नी (आवाक्षुः) प्राप्त कराई है,(तां) उस पत्नीको(रसेन)रसों से अन्नके रसोंसे (अभिवर्धतां) बढावे ॥

(पयसा दूधसे (अभिवर्धतां) बढे राष्ट्रके साथ (अभिवर्धतां) बढे,(इमौ) ये दोनों पति और पत्नी सहस्र प्रकारके धनों से (अनुपक्षितौ) भरपूर (स्तां) हों ॥

(त्वष्टा) ईश्वरने यह (जायां) स्त्री (अजनयत्) उत्पन्न की है, ईश्वरनेही तुझ पतिको यह पत्नी दी है। ईश्वरही सहस्रों शक्तियोंसे युक्त जीवन देकर आपकी दीर्घ आयु करे ॥

इस दंपतीसूक्तमें (राष्ट्रेण अभिवर्धतां) अपने राष्ट्र के साथ बढो, यह उपदेश दिया है। विवाहित होकर जो बढना है वह अपने राष्ट्रके साथ बढना है,अपनी जाति के साथ बढना है। न कि विवाहित होकर अपने राष्ट्रके विरुद्ध होकर बढनेका यत्न करना। पाठक इस सूक्तके इस उपदेशको अर्थात् अपने " राष्ट्रके साथ बढने" को पूर्णतासे ध्यानमें धरें। अब हम बतायेंगे, कि यह वैदिक उपदेश ध्यान में न रहनेसे क्या बनगया। देखिये वाल्मीकी रामायण की साक्षी—

(६) रामायण की साक्षी।

(१) ग्रामणी नामक गंधर्वने अपनी पुत्री देववती सुकेश नामक राक्षसको दी, उससे आगे जाकर सुमाली और माली इन राक्षसोंकी उत्पत्ति होगई, जो लंकामें राज्य करने लगे। (रामायण उत्तर कां० स० ५)

(२) राक्षस अपने स्वभाव के अनुसार ही ऋषि और देवोंको सताने लगे। इन से त्रस्त होकर ऋषियोंने और देवोंने एक विचार से विष्णुकी सहायता लेकर राक्षसों के साथ बडा युद्ध किया, और सब राक्षसों को पाताल में भगाया। (रामा० उ० कां० स० ६—८)

इस प्रकार बडा युद्ध करने के पश्चात् ही देवों और ऋषियोंको शांति प्राप्त हुई।

(७) प्राचीन जातियोंके स्थान।

" असुर्य लोग" वह है कि जिसको आज कल "असीरिया" कहते हैं, यहां असुर, राक्षस, रक्षः आदि नामके लोग रहते थे। "सुरलोक" वह है कि जिसको आजकल "तिब्बत" कहते हैं, यही त्रिविष्टप " है, इस देशमें देवोंका राज्य था। " गंधर्व लोक" वह है कि जो हिमालय की उतराई का स्थान है, वही अप्सराओं अर्थात् सुंदर स्त्रियोंका प्रदेश है।

यहांसे तिब्बतमें तथा भारतमें अप्सराएं आती थीं और तिब्बतके देवों

और भारतीय आर्यों के साथ संबंध करती थीं। हिमालय से नीचे जो सम प्रदेश है वही "आर्य लोक" है इसमें आर्यों की अथवा मनुष्योंकी वस्ती थी। और दक्षिण भारतमें "सर्पजाती" के लोग रहते थे।

इस प्रकार कल्पना करनेसे मनुष्य लोक, गंधर्वलोक, सुरलोक, असुरलोक और सर्पजन इन देशोंकी कल्पना होगी। आज कलके स्थानों और प्राचीन स्थानों में थोडा भेद भी हुआ होगा, परंतु साधारण कल्पना आने और रामायण महाभारत तथा अन्य पुराणोंकी कथाएं समझनेके लिये उक्त प्रकार की हुई कल्पना भी पर्याप्त हो जायगी।

असुर और राक्षस ये बलवान, क्रूर मनुष्य खादक और मांसाहारी थे। सुर और देव ये बुद्धिमान, सभ्य और शाकाहारी थे, कमसे कम नरमांस भक्षक तो नहीं थे। और भारतीय मनुष्य मरियल, दुर्बल तथा राक्षसों और देवों से भी डरने वाले थे। इस सर्व साधारण नियम में कई अपवाद भी हैं, इसीलिये भारतीय साम्राट् देवासुर युद्धोंमें कईवार देवोंकी सहायता करते थे और राक्षसोंको भगा देते थे। परंतु अत्यंत स्थूल भाव देखनेके लिये पूर्वोक्त वर्णन पर्याप्त है।

राक्षस अपनी शक्तिके गर्वमे देवों और मनुष्योंको कोई चीज समझते ही नहीं थे। जिसप्रकार इस समय आफ्रीडी पठाण दुर्बल हिन्दुओंके साथ जैसा जबर्दस्तीका व्यवहार करते हैं, उससेभी भयंकर अत्याचार राक्षस देवों और आर्यों पर करते थे। यह उस समयकी राजकीय और सामाजिक परिस्थिति समझ लीजिये।

पहाडकी उतराई पर गंधर्व लोग भी बडे प्रबल थे,परंतु गाना, बजाना और नांचना करनेवाले ये "मौजी" लोग थे। तथापि चित्रसेन गंधर्व जैसे कई वीर इनमें भी बडे पराक्रमी थे।

(८) गंधर्वों के साथ असुर का विवाह।

अब पूर्वोक्त कथाकी बात ध्यान से देखिये। इस प्रकारके उपद्रवी सुकेश राक्षस को ग्रामणी गंधर्व अपनी पुत्री देता है, इस दम्पतीसे होनेवाली संतान लंकाराज्य की "जन्मसे हकदार" बन गयी और लंका का राज्य प्राप्त होते ही इन्होंने भारतीय आर्यों और तत्वज्ञानी ऋषियों, हिमालय के गंधर्वों, और तिब्बत के देवोंको बहुतही सताया। अंतमें उक्त तीनों राष्ट्रोंकी जातियोंने मिलकर अपना संघ बनाकर लंका द्वीपके राक्षसों को परास्त किया और उनको पातालमें भगाया। इस समय लंकासे सब राक्षस (पाताल) अमेरिका के मेक्सिको नामक देशमें भाग गये।

विदेशी अथवा दूसरे राष्ट्र के मनुष्यको अपनी लडकी विवाहित करनेसे इतने

कष्ट होना संभव है। इसलिये विवाह के समय अपनी राष्ट्रीयता के साथ रहनेका अवश्यही यत्न करना चाहिये । अब दूसरी कथा सुनिये। —

(९)असुरकन्यासे विश्रवाका विवाह।

(३) पातालमें भगा हुआ सुमाली कुछ नीति द्वारा राज्य कमानेके उद्देश्यसेआर्यावर्त में बडे गुप्त रूपसे आया और अपने साथ अपनी पुत्री कैकसी को भी लाया। प्रयत्न करके उन्होंने अपनी पुत्रीका विवाह विश्रवाके साथ किया और विश्रवानेभी राष्ट्रीयताका विचार न करते हुए उस राक्षस कन्याका स्वीकार किया। इसी कैकसीसे रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और बिभीषण उत्पन्न होगये।

इस समय लंकाका राज्य, कुबेर वैश्रवण, जो रावणका सापत्न भाई था, उसके आधीन था। जब रावण जवान हुआ, उस समय लंकाद्वीप के राज्यपर अपना अधिकार कर कर कुबेरके साथ विरोध करने लगा। राक्षसको राज्य प्राप्त होनेपर रावणके कारण आर्यावर्त, गंधर्व लोक और देवलोक को कितना कष्ट हुआ और उक्त सबोंने अपनी संघशक्तिसे किस प्रकार राक्षसोंको परास्त करके भारत की स्वाधीनता प्राप्त की यह बात रामायण में है जो सब जानते ही हैं।

इस कथामें गजकार्य घटनाएं बहुत हुई हैं, परंतु यहां उनका विचार करने के लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही देखना है कि राक्षस कन्या के साथ विवाह करनेकी गलती विश्रवाने करनेके कारण जन्मसे ही राक्षसोंका अधिकार भारतीय प्रदेशपर हुआ और जनताको कुटिल राक्षस नीतिके कारण अत्यंत कष्ट हुआ।

पहिले उदाहरणमें भारतके ऊपरके गंधर्व लोकके किसी प्रतिष्ठित गंधर्वकन्या से एक श्रेष्ठ राक्षस का विवाह हुआ, और इस दूसरे उदाहरण में राक्षसकन्या के साथ प्रतिष्ठित आर्य का विवाह हुआ। दोनों उदाहरणोंमें भारत को दास्य में जाकर अनंत क्लेश भोगने पडे और बडे युद्ध के साथ ही भारतमें स्वतंत्र स्वराज्य पुनः स्थापित हुआ।

देखिये साधारण विवाहमें राष्ट्रीयताका विचार न करनके कारण कैसे और कितने बडे राष्ट्रीय कष्ट खडे होते हैं, इसी लिये वेदने कहा है कि विवाह करनेके समय "राष्ट्र के साथ बढो।" अब इसविषयमें महाभारत की साक्षी देखिये—

(१०) महाभारत की साक्षी।

आर्य पुरुषका सर्पकन्यासे विवाह।

—:※:—

(१) जरत्कारूका विवाह नहीं होता था, क्यों कि वह निधन था, इसलिये कोई मनुष्य उसको कन्या देना नहीं चाहता था। जब जरत्कारू संतान

उत्पन्न करनेका अत्यंत अभिलाषी हुआ, तब कन्या प्राप्त करने के लिये इतस्ततः भ्रमण करने लगा !! पश्चात् इसका विवाह सर्पराज वासुकिकी बहिन के साथ हुआ। इससे "आस्तीक मुनि" की उत्पत्ति हो गई। सर्प जातीकी स्त्री और आर्यजातीका पुरुष इनका यह मिश्र विवाह है और इसकी मिश्र संतान "आस्तीक मुनि" है।

आर्यजाति उत्तर भारतमें और सर्पजाति दक्षिण भारतमें वसती थी। इन दोनों जातियोंमें बडा वैमनस्य था। यह वैमनस्य इतना बढ गया था, कि एक समय सर्पजातिके कई वीर संन्यासीके वेषमें फलपुष्पोंकी भेंट करनेके मिषसे सम्राट् परीक्षितके राज दरबारमें गये और शामके समय कपटसे राजाका वध उन्होंने किया !!! इसके अनंतर राजाका वध करनेवाली सर्प जातीके संपूर्ण जनोंका नाश करनेका प्रण आर्य जातीने ठान लिया, इसी का नाम महाभारतमें "सर्पसत्र" है। इस सर्प सत्रमें सर्पजातीके लोगोंका सर्वसाधारण कतल ही शुरू की गई, इसमें छोटे बडे अनंत सर्प लोग नष्ट भ्रष्ट होगये। अंतमें आस्तीक मुनिकी माताके पास जाकर अन्य सर्पोंने कहा कि——

तद्भ्रातस्त्वं ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम्। ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥

म०भा०आदि०अ०५३।२६

वासुकि अपनी भगिनीसे बोला, कि "हे बहिन ! अब मेरी और मेरे परिवारोंकी रक्षाके निमित्त वृद्ध संमत वेदनिपुण अपने बालक पुत्रसे कहो।" यह अपने भाईका भाषण श्रवण कर सर्पकी बहिन अपने पुत्र आस्तीक को बुलाकर बोली—

अयं स कालः संप्राप्तो भयान्मोक्षयितुमर्हसि। भ्रातरं चापि मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात्॥

म० भा० आदि० अ० ५४।१६

सर्पभगिनी अपने पुत्र आस्तीकसे बोली कि "हे पुत्र ! अब वह कठोर काल आ पहुंचा है, इसलिये तुम हमको भयसे बचाओ, मेरे भाइकी रक्षा करो" इसपर मातृस्नेह वश आस्तीक मुनिने उत्तर दिया-

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ॥ १९ ॥ भव स्वस्थमना नाग नहि ते विद्यते भयम्॥ प्रयतिष्ये तथा राजन्यथा श्रेयो भविष्यति ॥२०॥

म० आ० आदि० अ० ५४

आस्तीक मुनि बोले- "हे सर्पराज वासुके ! मैं सच कहता हूं कि तुमको मैं बचाऊंगा। हे राजन् तुम शांत चित्तसे स्वस्थ रहो। अब तुम्हें भय नहीं है, मैं ऐसा यत्न करूंगा कि जिससे तुम्हारा मंगल होगा।"

इसप्रकार मातासे और मातुलों से वह कर आस्तीक मुनि जनमेजय के सर्पयज्ञ

में गये और राजासे लेकर संपूर्ण कार्यकर्ता ओं की खूब प्रशंसा करने लगे !! स्तुतिसे राजा प्रसन्न हुआ और बोला, कि "हे ब्राह्मण! जो चाहे सो मांग लो।"

य ं के कई कार्य कर्ता ओं ने राजासे कहा कि अभी थोडे सर्पों का वध होना शेष है, इसलिये इस ब्राह्मणको मनमाना वर न देना। बहुधा ये ज्ञानी ब्राह्मण जानते ही होंगे, कि यह आस्तीक मुनि सर्पी और आर्य के संयोगसे जन्मी हुई मिश्र संतान है, संभवतः यह मुनि महाराजका स्तुतिपाठ करते करते राजासे वर लेकर अपनी माताकी जा ीको बचायेंगे, और हमारा इतना बना बनाया कार्य निष्फल हो जायगा। और वैसाही अंतमें हुआ। राजाने उदार भावसे वर दिया और आस्तीक ने उस समय पिताकी जातिके आर्योंका हित करनेके स्थानपर अपनी माताकी जातीके सर्पोंका हित किया!!!

यह इतिहास महाभारतमें पाठक देख सकते हैं। कवि का अलंकार हटानेसे यह इतिहासिक बात स्पष्ट नजर आती है। आर्य जातीको जैसा राक्षस जातीसे कष्ट होता था, उसी प्रकार सर्प जातीके लोग भी बहुत सताते थे। यह वैर इतना बढ गया था कि,एक प्रतिष्ठित आर्य राजाका वध सर्पजातीके "अराजक" युवकोंने राज मंदिर में मंत्रियों की उपस्थितिमें किया! उत्तंक जैसे सात्विक ब्रह्मचारीकोभी अत्यंत कष्ट दिया !! इसलिये सर्पजाती के कारण जैसे क्षत्रिय वैसे ही ब्राह्मण भी बडे क्लेशित हो गये थे। अंतमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंने मिलकर सर्प जातीका पूर्ण नाश करनेका निश्चय किया। यह सर्पजा ी पर आर्यजातीका दिग्विजय था। युद्धमें सर्पजाती पूर्ण परास्त और आर्य करीब विजयी हुए थे। इतनेमें एक आस्तीक नामक युवक-जो सर्प स्त्री और आर्य पतिसे उत्पन्न हुआ था-उसने अपनी माताके मोहके कारण आर्योंके दिग्विजय में बाधा डाली और आर्यों के शत्रुओं को मदत की। यह घोर अनर्थ राष्ट्रीयताका विचार विवाह करनेके समय जरत्कारू के न करनेसे हुआथा। इसलिये वेद कहता है कि "पतिपत्नी राष्ट्रीयताके साथ उन्नत हों और विवाहमें राष्ट्रीयताका विचार अवश्य हो। नहीं तो राष्ट्रके विविध प्रसंगोंमें किस समय कितनी हानि राष्ट्रको उठानी होगी इसका कोई ठिकाणा नहीं है।

माता का परिणाम संतान पर अत्यधिक होता है, पिताकी अपेक्षा माताका प्रभाव संतान पर होता है, इस लिये विवाह करनेके समय राष्ट्रीयताका विचार अवश्य ही होना चाहिये। इस विषयमें महाभारतमें दिया हुआ एक उदाहरण यहां और देखिये---

(११) आर्यराजाका अप्सरासे गांधर्व विवाह।

(१) राजा विश्वामित्र स्वर्गपद

अर्थात् स्वर्गका राज्य प्राप्त करनेकी अभिलाषासे बडा प्रयत्न कर रहा था। आर्यावर्त के प्रतापी राजे तिब्बत के राजाओं पर हमला किया करते थे, और प्रसंग विशेषमें उन को सहायताभी करते थे। राजा विश्वामित्र मंत्रज्ञ और अस्त्रशस्त्रज्ञ होनेके कारण बडा प्रतापी था और यदि उनका कार्य सफल होजाता, तो स्वर्गपद पर अर्थात् तिब्बत के राज्य पर आरूढ होना, उनके लिये कोई अशक्य बात नहीं थी।

जो आर्य सम्राट् तिब्बतपर चढाई करनेकी तैयारी करतेथे, उनके ऊपर तिब्बतके राजा सबसे पहिले "स्त्री प्रयोग" करते थे!! प्रायः हिमाचल की सुंदर अप्सरायें आर्यावर्तमें आकर आर्य राजाओं को मोहित कर उनको उस चढाईके कार्यसे परावृत्त करती थीं। इसी प्रकार देवराज इंद्र महाराजने राजा विश्वामित्रके ऊपर "स्त्रीप्रयोग" किया, अप्सरा मेनका इस कार्य के लिये भेजी गई। उसका सुंदर रूप देखकर विश्वामित्र अपने कार्यसे विमुख हो गया और वह उस अप्सराके साथही रमने लगा। देखिये साम्राज्य रक्षामें स्त्रियोंका महत्त्व कितना है! जापान और रूसके युद्ध के पूर्व इसीप्रकार जापानी युवतियां रूसमें जाकर रूसी सरदारोंकी पत्नियां बनकर रहीं थीं, और वहांसे गुप्तसंदेश अपने जापानी युद्ध मंत्रीके पास भेजतीथीं! इसी प्रकार फ्रांस और जर्मनीके युद्धके पूर्व कई जर्मनी स्त्रियें भिन्न भिन्न मिषसे फ्रांसमें आकर रहींथीं। इसी प्रकार तिब्बत के राजा लोग अपने राज्य संरक्षणके लिये भारतीय बलवान आर्यराजाओंके ऊपर "स्त्री प्रयोग" ही किया करतेथे। वीरके कठोर शस्त्रकी अपेक्षा स्त्रियोंका सुकोमल दिखावटी प्रेमका अस्त्र बडा ही प्रभावशाली होता है यह बात हरएकके समझमें आसकती है, इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है। अस्तु। इस प्रकार राजा विश्वामित्र मेनकास्त्रसे पराजित हुआ और इस गांधर्वविवाहसे शकुंतलाका जन्म हुआ। यहभी मिश्र संतान ही है, पिता आर्य और माता गंधर्वी, इस से यह मिश्रित संतान शकुंतला उत्पन्न हो गई। मिश्रसंततिमें समयसमयपर माताका सौंदर्य विशेष उतरता है, विशेषकर बालिकामें तो अवश्यही उतरता है। अप्सरा शीत प्रदेशकी होनेके कारण गौरवर्ण थी। आर्य राजाओंका वर्ण गन्धमी होता था। वह पिताका वर्ण स्त्री संतानमें न आकर माताका वर्ण शकुंतला में आनेके कारण शकुंतला गौरवर्णकी थी। अब इसका वृत्तांत देखिये --

(१२) आर्य राजाका मिश्रित कन्यासे विवाह।

(३) राजा दुष्यंत एक समय मृगया करते करते वनमें बहुत भ्रमण होनेके कारण अत्यंत थक गये और कुछ विश्राम लेनेकी इच्छासे कण्वऋषिके आश्रम

में गये। उस समय आचार्य कण्व कुछ कार्य के लिये वनमें गये थे और दोचार घंटोंमें वापस आनेवाले थे। इतने में वहां दुष्यंत पहुंचा। उद्यानमें आचार्यकी कन्यायें फुल वाडी को पानी दे रहीं थीं अथवा कुछ कार्य कर रहीथीं। उन सब कन्याओंमें शकुंतला गौरवर्ण और रूपसम्पन्न होनेके कारण दुष्यंत राजाने शकुंतलाके साथ गांधर्व विवाह किया। विवाहका सब प्रयोजन सिद्ध होनेके पश्चात् आचार्य कण्वका दर्शन करनेका भी साहस राजा दुष्यंत को नहीं हुआ, क्यों कि उन्होंने अनुचित कार्य किया था। राजा इस प्रकार आश्रमसे चला गया।

पश्चात् कण्व आश्रममें आगये, उनको सब बात विदित हुई। तब उसने यही समझा कि " क्षत्रिय की लडकी क्षत्रिय के पास गयी, यह अच्छा ही हुआ। " क्यों कि अब कोई दूसरी बात बन नहीं सकती थी। पश्चात् शकुंतला प्रसूत होकर पुत्रवती होगई। कुछ दिन होनेके पश्चात् कण्व ने शकुंतलाको राजा के पास भेजा। राजा बडा लज्जित होगया, लज्जासे मूढ होकर उसने शकुंतला के साथ गांधर्व पद्धतिसे विवाहित होनेका इन्कार किया। यह शकुंतलाका सचमुच बडा अपमान हुआ इसमें कोई संदेह नहीं, अपमानके साथ साथ शकुंतला निर्दोषी होने परभी राजाने उसको " व्यभिचारिणी मेनका की पुत्री " कह कर धिक्कार किया!! इससे अत्यत क्रोधित होकर शकुंतला ने जो भाषण किया, वह हरएक तरुण को ध्यानसे पढना चाहिये—

(१३) पतिको धमकी।

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि। आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि॥८३॥ मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु मेनकाम्। ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यंत तव जन्मनः॥ ८४॥ क्षितावटसि राजेंद्र अंतरिक्षे चराम्यहम्। आवयोरंतरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव॥८५॥ महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च। भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप॥८६॥ विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम्। मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम्॥८८॥ अनृते चेत्प्रसंगस्ते श्रद्दधासि न चेत्स्वयम्। आत्मनो हंत गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम्॥ १०९॥ त्वामृते चापि दुष्यंत शैलराजावतंसिकाम्। चतुरंतामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति॥११०॥

म० भा० आदि. अ० ७४

शकुंतला बोली कि "हे राजन्! पराया दोष ससोंके समान होने पर भी देख लेते हैं, पर अपना दोष बेलफलके समान बडा होनेपर भी नहीं देखते। हे दुष्यंत! मेनका देवोंकी प्रेमी है और देवगण मेनकाके प्रेमी हैं, सो आपके जन्मसे मेरा जन्म श्रेष्ठ है। देखिये, मेरु और ससों के समान हम दोनों में भेद है, आप धरती पर चलते हैं और मैं अंतरिक्षमें चलती हूं। मेरा प्रभाव कितना है देखिये; मैं महेन्द्र, कुबेर, यम और वरुण इसके मंदिरों में जा सकती हूं। कुरूप जन जबतक दर्पणमें अपना मुख नहीं देखता, तबतक औरोंसे अपनेको सुंदर समझता है, पर जब दर्पण में अपना मुख बुरा देखता है, तब जानता है, कि औरोंसे अपना कितना प्रभेद है। अस्तु। अंतमें इतनाही कहना है कि यदि मिथ्याही पर आपका प्रेम हो और उससे आप मेरी सत्य बातकी परतीत न करें, तो मैं स्वयं चली जाती हूं; आपसे मेरे मिलनका कोई प्रयोजन नहीं है। हे दुष्यंत! आपके न लेनेसे भी मेरा यह पुत्र शैलराजसे अलंकृता इस पृथ्वीका चारों समुद्रोंतक शासन करेगा।"

यह शकुंतला का भाषण विचार करने योग्य है। परराष्ट्र की और विशेषतः विजयी पर राष्ट्रकी पुत्री इसी प्रकार बोल सकती है। यदि शकुंतला का भाषण आजकल की परिस्थितिमें बोला जाय तो निम्न प्रकार होसकता है—

यूरोप अमेरिकाकी गोरी तरूणी अपने काले पति के उपर क्रोधित होकर बोलती है कि — "ए काले आदमी! तू क्या समझता है? तू मुझे दोष लगाता है, परंतु तू अपना दोष देखता नहीं! मेरी माता ऐसे विजयी देशकी रहनेवाली और मेरी माताकी पहचान बडे बडे ओहदेदारोंके साथ है। इसलिये मैं जिस समय चाहे किसीभी ओहदेदार को मिल सकती हूं। बडे लाट और छोटे लाटसाहेबके घरों में भी मैं जा सकती हूं, तुझे तो वहां कोई पूछेगा भी नहीं। तू पैदल चलता है, मन में आया तो मैं उनकी मोटार में भी जासकती हूं। तू ससों के समान क्षुद्र है, मैं पहाडीके समान बडी हूं। तेरे में और मेरे में यह अंतर है, देख। तू अपना काला मुख तो शीशे में देख और मेरा मुख कैसा है देख, तो तुझे पता लग जायगा कि तू कितना कुरूप है और मैं कैसी रमणी हूं। यदि तू मेरा कथन नहीं मानता, तो मैं इसी समय दूसरे स्थान पर चली जाती हूं। यह मत ख्याल कर कि तेरी क्षुद्र सहायता के विना मेरा गुजारा नहीं चलेगा। मेरा जाना आना बडे ओहदेदारों के पास सहज हो सकता है इस लिये मेरी आजीविका सुगमतासे हो सकती है यह भी मत

ख्याल कर कि तेरी सहारेके बिना मेरा पुत्र अनाथ होगा, कदापि नहीं, वह "मेरा पुत्र" होनेके कारण उसका बडे ओहदेपर कार्य प्राप्त होना सुगम है। इस लिये यह खूब ध्यानमें धर कि तेरा त्याग करनेसे मेरा कुछभी बिगडता नहीं परन्तु मैं तेरे साथ रहनेसे ही तेरा महत्त्व बढ सकता है। "

युरोप अमेरिका की तरुणियोंके साथ, अपनी राष्ट्रीयताका विचार छोडकर, विवाह करनेवाले यह शकुंतलाका भाषण वारंवार पढें। हमने कई झगडे, युरोपीयन पत्नी और हिंदी पति के बीचमें हुए देखे हैं। उनकीभी भाषा इसी प्रकार होती थी। कई बार अंतमें डरकेमारे पतिको अपमान सहन करते हुए गोरी पत्नी का कहना मानना ही पडता था। दुष्यंत के बारेमें भी यही बात हुई, कुबेर आदि देवोंके नाम निकालते ही, दुष्यंतनेभी शकुंतला की बात तत्काल मानली और अपनी पट्टराणी शकुंतला को बनाई। अर्थात् पहिली राणीका-एक आर्य स्त्रीका-अधिकार छीनागया और दूसरे अनधिकारी स्त्रीको वह अधिकार दिया गया। इसका परिणाम यह हुवा कि राज्यका अधिकारी शकुंतला का बेटा हुवा न कि पहिली पट्टराणी का। यह अन्याय इस लिये हुआ कि शकुंतला मिश्र जातीकी परराष्ट्रीय स्त्रीसे जन्मी हुई थी, और समय आनपर गंधर्व राजाओंके द्वारा दुष्यंतको भी डरा सकती थी।

देखिये कैसे कैसे अनर्थ विजयी राष्ट्र की तरुणी के साथ विवाह करनेसे हो सकते हैं। जिस प्रकार शकुंतला ने कहा कि मैं बडे बडे देवोंके मंदिरोंमें जा सकती हूं, वही बात पूर्वोक्त आस्तीक मुनिकी थी। वह आर्य मुनि होनेके कारण जनमेजय के यज्ञ में बिनारोकटोक जा सकता था, उसी प्रकार बडे बडे सर्पराजाओं के घरोंमें भी जा सकता था। आर्य जाती और सर्प जाती का वैर होने पर भी आस्तीक को कोई रोक नहीं सकता था। वह पिता के कारण आर्य था और माताके कारण सर्प था। इसी लिये सुगमतासे जनमेजय के यज्ञमें पहुंच कर उसने अपने मातुलोंका हित साधन किया और पिताकी जातिके लोगों के अहितका कारण बना !!!

(१४) भेद नीतिका साधन।

इस प्रकार के मिश्र विवाह करनेसे घरमें फूट भी हो सकती है क्योंकि पत्नी का मन स्वजातीके हित में होना स्वाभाविक है और उनके पीछे उनकी विजयी जाती होने से उनका जोर जन्मसिद्ध ही अधिक होता है। परंतु पतिके पीछे कोई न होनेसे और सर्वदा वह "काला आदमी अथवा निगर" होनेके कारण सदा भयभीत ही रहता है। कई आर्य राजाओंके घरमें इस कारण फूट होनेका भी इतिहास हमारे ग्रंथों में लिखा है।

(१५) आर्य राजाका पारसी स्त्रीके साथ विवाह।

इस विषयमें यहां एकही उदाहरण देखिये। दशरथ राजाकी धर्म पत्नियां कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी रामायणमें प्रसिद्ध हैं। युवराज रामचंद्रजी के राज्याभिषेकके समय कैकेयी राणीने कितना विघ्न किया था और उनके आग्रहके कारण रामचंद्रजीको चौदह वर्ष वनवास भोगना पडा यह इतिहास सुप्रसिद्ध है। यह कैकेयी भी भारतीय आर्य स्त्री नहीं थी। रावण की माता "कैकसी" दशरथ की स्त्री "कैकेयी" और आजकल के पारसीयों के नामों में "कैकश्रु" आदि नाम होते हैं—

(१) कैक – सी

(२) कैके – यी

(३) कैक – श्रु

इन नामोंके प्रारंभमें "कैक" ये अक्षर हैं, इन अक्षरों से नामोंका प्रारंभ केवल पारसी लोगोंकी भाषामें होता है। संस्कृत में इन नामों की कोई व्युत्पत्ति हो नहीं है। इस लिये स्पष्ट है कि, कैकेयी भारतीय आर्य कन्या नहीं थी, परंतु इराणी असुरोपासकों की कैकेय देशमें जन्मी हुई कन्या थी। पारसी स्त्रियोंके समान कैकयी भी कौसल्यादि गन्नमी रंगवाली आर्य स्त्रियों से विशेष गौरवर्ण और अधिक सुंदर थी। इसी लिये वृद्ध परंतु कामी दशरथ राजा कैकयीके मंदिरमें ही हमेशा पडा रहता था और कैकेयी पर ही उसका अधिक प्रेम था। परन्तु इस परराष्ट्रीय स्त्रीके कारण दशरथके घरमें कितना विप्लव हुआ, अंतमें दशरथको भी स्वयं पुत्रशोकसे मरना पडा, और धर्मपरायण आर्यस्त्रियोंको भी कितना दुःख भोगना पडा, यह रामायण में प्रसिद्ध है। जो फूट का कार्य दशरथके घरमें कैकयीने किया वह कौसल्यासे अथवा सुमित्रासे होना संभवही नहीं था, क्यों कि कैकेयोको अपने सौंदर्यका गर्व था, मेरे आधीन राजा है, उससे जो चाहे मैं करवा सकती हूं, यह उसका विश्वास था, तथा अपने पीछे सहायक असुरोपासक सब राजा लोग हैं, यह भी घमंड थी इस कारण इतना साहस कैकयीने किया।

घरमें फूट कैसी हो सकती है यह इस उदाहरण में देखिये।

विदेशी और परराष्ट्रीय स्त्रीके साथ विवाह करनेपर कितने अनर्थ हो सकते हैं। इनका थोडासा वर्णन इस लेखमें किया है। वह स्त्री सदा अपने देशका विचार करती रहती है, पुत्रको भी दूध पिलाते पिलाते अपने देशका गौरव सिखाती है, अपने साथ कभी कभी अपने मातापिता के पास ले जाती है। इस कारण उस पुत्रके मनमें भी माताके संबंधियों और माताके देश के साथ प्रेम उत्पन्न होता है। जब कभी माताके देश वालों के साथ पिताके देशवालोंका विप्लव होगा, उस समय यह संभव बहुत अधिक है, जैसा

कि आस्तीक आदिके उदाहरणोंमें हमने देखा है, कि वह मिश्रित संतान माता के देशवालों का ही हित देख कर पिता के देशका अहित करने के लिये भी उद्युक्त हो सकती है,क्यों कि माताका प्रभाव संतान पर अधिक हुआ करता है।

महाभारतमें ऐसे मिश्रित विवाह कई हैं । परंतु सब में बात यही है । जबतक माताकी जातिवालोंके साथ पिताकी जाति वालोंका कोई विप्लव नहीं होता, तब तक वे पिताके साथ रहते और बहुत कार्य करते हैं । परंतु जिस समय उक्त प्रकार जाति जातिमें विप्लव हुआ उस समय वह मिश्रित संतान माताकी जाति का हित करनमें दक्ष होती है । उदाहरण के लिये भीमसेनका हिडिंबा राक्षसीसे जन्मा हुआ घटोत्कच लीजिये । पांडवोंके भाई कौरवों के साथकी आपस की लडाई में वह पांडवोंके साथ ही रहा, क्यों कि कौरव राक्षस जातीके नहीं थे । परंतु यदि पांडवों का युद्ध राक्षसों के साथ होता,तो यह संभव कम ही था, कि घटोत्कच उस समय पांडवों की सहायता करता । इसी दृष्टिसें महाभारत के मिश्र विवाहोंका परीक्षण करना चाहिये ।

महाभारत में जो वर्णन है वह स्पष्ट बताता है कि सुंदरता आदिसे मोहित होकर परराष्ट्र की तरुणी से विवाह कर लेना, अपने राष्ट्र पर अशांति ही लाना है । पाठक इस का अधिक विचार करें ।

(१६) कौरव पांडवों के वैमनस्य का कारण ।

अब इसी प्रसंगमें कौरव पांडवोंके वैमनस्यका कारण देखने योग्य है । देखनेके लिये तो द्रौपदी के छलके कारण तथा राज्य का भाग न मिलने के कारण कौरव पांडवों का घोर युद्ध हुआ । परंतु इसका मूल कारण उनकी उत्पत्तिमें और जन्म कथा में है । राष्ट्रीय युद्धादिके लिये बाह्य कारण और आंतरिक कारण भिन्न भिन्न होते हैं । उदाहरण के लिये देखिये- 'गत युरोपके युद्ध का बाह्य निमित्त तो एक छोटेसे राजाके युवराजका वध' हुआ । परंतु आंतरिक मुख्य कारण युरोपके विभिन्न राज्योंकी व्यापार की स्पर्धा ही था ।

इसी रीतिसे कौरव पांडवोंके महायुद्ध का कारण कौनसा है यह विचार की आंखसे देखना चाहिये । (१) सती द्रौपदी का छल और (२) राज्यका अर्धभाग न मिलना ये दो कारण बाहर बतानेके लिये पर्याप्त हैं। परंतु वास्तविक जो आंतरिक कारण है वह दोनोंकी " मनः प्रवृत्ति की विषमता " है । यह मनःप्रवृत्तिकी विषमता उनके जन्म के साथ संबंध रखती है ।

एक वीर्यसे उत्पन्न हुए दो भाई राजा पांडु और राजा धृतराष्ट्र थे । वीर्य में किसी प्रकारका दोष नहीं था क्यों कि श्री वेदव्यास जी का परिशुद्ध

वीर्य था। परंतु क्षेत्र भिन्न थ और क्षेत्र में कुछ दोषभी था। इसकारण एक अंधा और दूसरा पांडुरोगी बना था। तथापि वीर्यकी एकता होनेके कारण धृतराष्ट्र और पांडु में बंधुप्रेम अत्यंत उज्वल था। वीर्य की एकता का यह परिणाम पाठक अवश्य देखें।

इसके पश्चात् धृतराष्ट्रके वीर्यसे आर्य स्त्री गांधारी के क्षेत्रमें सौ पुत्र हुए। इस में ध्यानमें रखने की यह बात है कि सबमें एकही वीर्यका संबंध था।

परंतु पांडवोंके विषयमें यह बात नहीं है। जिस वीर्यसे पांडवोंकी उत्पत्ति हुई थी वह वीर्य पंडुका नहीं था। कुंतीके साथ पंडु हिमालयकी पहाडीपर रहता था, क्षयरोगी होनेके कारण हस्तिनापुर में रहना उनके लिये हानिकारक था। तथा अत्यंत रोगी होने के कारण स्ववीर्य से संतान उत्पन्न करना उसके लिये अशक्य था। इसलिये उसकी अनुमतिसे कुंतिका नियोग तिब्बत देश निवासी तीन देवलोगों से हुआ और माद्रीका नियोग उसी देशके अश्विनी कुमारोंसे हुआ। इस नियोगसे कुंतीको तीन और माद्रीको दो संतान हुए। अर्थात् पांडवोंकी उत्पत्तिमें वीर्यकी विभिन्नता कितनी है यह पाठक देखें।

तिब्बतके लोगोंके वीर्यसे जन्मे पांडव और भारतीय आर्य राजाके औरस पुत्र कौरव इनमें वीर्यकी विषमताके कारण बंधुप्रेम होना अशक्य था। यदि पंडुके निजवीर्य से पांडव उत्पन्न होते तो प्रायःभारतीय महायुद्ध होना ही असंभव था।

इसमें और भी विचारणीय बात यह है, कि जिससमय पांडव जन्मे इस समय तिब्बतके इंद्रादि देवसम्राट् बल वीर्यादिसे अधिक संपन्न थे। उनके वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण रंगरूपमें भी पांडवोंकी विशेषता होना संभव है तथा वीर्यसे जो मनःप्रवृत्ति बनती है वह भी भिन्न ही होगी। जिस प्रकार आज कल विजयी युरोपीयन पुरुष और जित भारतीय स्त्रीसे जन्मी हुई 'युरेशियन' मिश्र संतति अपने आपको वीर्यके गर्व से " बडे साबों" में संमिलित करती है और अन्य काले आदमियों पर हुकुमत करनेको प्रवृत्त होती है, उसीप्रकार महाभारत में भीम और अर्जुन ये दो पांडव कौरवोंको तथा किसी भी अन्य आर्य राजाको कुछभी मूल्य देते ही नहीं थे। देवलोगों के वीर्यके साथ आई हुई दूसरोंसे अपने आपको विशेष समझनेकी प्रवृत्ति पांडवों में थी।

साथ ही साथ पिताके औरस पुत्र कौरव होनेसे उन में " राज्यका मद " जन्मसेही था। जिस प्रकार आज कल के रियासती राजाओं के बेटे अपने आपको जन्मसे राज्याधिकारी और अन्य साधारण जनों से "उच्च" मानते हैं, ठीक उसीप्रकार

कौरव भी अपने आपको जन्मसे हकदार समझते थे । इस में और भी एक बात है वह यह है कि कौरव जन्मसे अपने राज्यमें पले थे इस लिये राज्यका मद उन में था । कौरव साम्राज्यवादी (Imperialist) इसी कारण बने थे दुर्योधन साम्राज्य अथवा मृत्यु दोनों में से एक पसंद करता था,बीच की अवस्था इसको इसी कारण पसंद नहीं थी ।

परंतु पांडवों को देखिये, वे धार्मिक वृत्ति वाले दिखाई देते हैं। ऐसा क्यों हुआ ? देखिये इसका कारण — कुंती और माद्रीके साथ पंडु साधुवृत्तिसे तपस्वी ऋषियोंके आश्रमो के बीचमें रहता था। तपोभूमिमें सदा धर्मविचार ही चलता था, इसका परिणाम कुंती और माद्री के ऊपर बहुत हुआ था क्यों कि धर्म भावना की ग्राहकता पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक होती है । धर्म भीमादि पांडव जन्म लेनेके पश्चात् बारह वर्षतक ऋषिआश्रमों में ही रहे थे । यह वास्तविक कारण है कि जिससे पांडवोंकी निसर्ग प्रवृत्ति ही धर्म की ओर होगई थी।

जिनका बालपन ऋषिआश्रममें व्यतीत हुआ है उनकी मित्रता राजधानीके साम्राज्यैश्वर्य में पले हुए कौरवोंसे होनाही असंभव है। इसका हेतु मनःप्रवृत्ति की भिन्नता ही है ।

वीर्यका परिणाम देखनेके लिये यहां यह बात भी देखिये कि सब कौरवोंका स्वभाव करीब एक जैसाही है क्यों कि उन सबोंमें वीर्यकी एकता है। परंतु पांडवोंमें स्वभाव वैचित्र्य है देखिये- (१) धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रवृत्ति सत्याग्रह करनेमें, (२) भीमसेन का स्वभाव मार पीट में (३) अर्जुनकी वृत्ति क्षात्र भावना में, (४) नकुल सहदेवोंकी प्रवृत्ति अन्योंके अनुगामी होनेमें प्रसिद्ध है। इस भिन्न प्रवृत्तिका कारण भिन्न वीर्य ही है । यमधर्मका धार्मिक वीर्य युधिष्ठिरमें, वायुदेव का पहलवानी वीर्य भीममें, देव सम्राट् इंद्र का वीर्य अर्जुन में और औषधकी गोलियां बनाने वाले अश्विनीदेवों का वीर्य नकुल सहदेवोंमें कार्य कर रहा था। इस वीर्य भेदके कारण मन प्रवृत्तिका भेद पांडवोंमें दिखाई देता है ।

वीर्य की भिन्नता होने पर भी माता की एकता थी इसलिये सब पांडव एक मतसे रहे थे। तथा (common cause) समान परिस्थिति के कारण भी उनमें एकता रही थी । अस्तु ।

इस विचार से पाठकों के मनमें आजायगा कि कौरवपांडवोंका महायुद्ध होनेमें आंतरिक गुप्त कारण कौनसा था इसी का सार निम्न लिखित कोष्टकमें देखिये—

कौरव —पांडवों के युद्धका मूल कारण ।

पांडव ।	कौरव।
(१) मातापिता वनमें रहते थे।	(१) माता पिता शहरमें रहते थे।
(२) एक माता और अनेक पिताओं से नियोगनियमानुसार उत्पत्ति।	(२) एक ही माता पितासे उत्पत्ति ।
(३) भिन्न वीर्यके कारण स्वभाव भेद और रुचिभेद ।	(३)समान वीर्य होनेके कारण स्वभाव की समानता ।

ॐ

(४)ऋषिआश्रमों में बालपन व्यतीत होनेके कारण सबोंकी धार्मिकवृत्ति।	(४) शहरमें पले जानेके कारण भोगी प्रवृत्ति ।
(५)न्याय्य मार्गसे अपनी उन्नति करने की इच्छा ।	(५) किसी रीतिसे साम्राज्य बढानेकी इच्छा ।
(६) नियोगसे संतति ।	(६) पितासे औरस संतति ।

माता पिता की परिस्थिति, जन्मके समय की स्थिति, बालपनके समय की अवस्था, वन अथवा नगर का रहना, संगति, सामाजिक तथा राजकीय घटनाएं, तथा अपना पुरुषार्थ इतना मिलकर स्वभाव बनता है । इसविषय का अधिक विचार महाभारत पढते पढते पाठक करें और उचित बोध लें।

विवाह करनेके समय "अपनी राष्ट्रीयताके साथ बढो " यह जो उपदेश वेद ने बताया है वह कितना आवश्यक है और वीर्य तथा क्षेत्र का महत्त्व मानवी स्वभाव बननेमें कितना है, तथा वीर्य भेद और क्षेत्रभेद से राष्ट्र में किसप्रकार विपत्ति उत्पन्न होती है, इत्यादि बातों-का निश्चय महाभारतादि ग्रंथोंमें वर्णित कथाओंका मनन करनेसे उक्त प्रकार हो सकता है।

महाभारत में जो इतिहास है वह काव्यमय वर्णन के अंदर है । विचार और मनन करनेसे काव्यका परदा हटाना सुगम है । वह परदा दूर करनेसे उस कालका भारत तथा आस पास के अन्य देशोंका सच्चा इतिहास दिखाई देता है। वही देखना चाहिये और इतिहाससे प्राप्त होने वाला उचित बोध लेना चाहिये।

आशा है कि इतिहासिक दृष्टिसे अपने ग्रंथोंका विचार और मनन पाठक करेंगे और उससे योग्य बोध लेंगे और तदनुसार अपना सुधार करेंगे।

बकासुर की लीला ।

[१] भारतकालीन विविध देश ।

महाभारतका पाठ इतिहासिक दृष्टिसे जो करते हैं, उनको उसी समय पता लगता है, कि असुर, सुर, गंधर्व, किन्नर, भूत, आर्य, सर्प, वानर आदि अनेक जातीके लोगोंका संबंध महाभारत की कथामें आगया है । विशेष आंदोलन के पश्चात् हमने निश्चय किया है कि—

(१) " असुर लोक " अथवा असुर-देश आजकलका बॅक्ट्रीया तथा असीरिया है । बॅक्ट्रीया देशसे "बक" नामक असुर आते थे जिनको उस समयके लोग बकासुर कहा करते थे । (२) "सुरलोक" अथवा सुरों किंवा देवोंका प्रदेश " त्रिविष्टप " किंवा आजकल का तिबत है; (३) "गंधर्वलोक" अथवा गंधर्वजातीका रहने का स्थान हिमालयकी उतराई ही है; (४) "किन्नर लोक " गंधर्व देशके निचले स्थान पर है, (५) "भूत लोक" अथवा भूत जातीके लोगोंका स्थान आजकल का 'भूतान' है जिसका नाम भूत स्थान ही है,(६) "आर्य लोक" आर्यावर्त ही है (७) "सर्पलोक " किंवा सर्पजाती के लोगोंका स्थान दक्षिण भारत और (८) दण्डकारण्यके कुछ हिस्सोंमें "वानर" जातीके लोगोंका स्थान है । इनके स्थाननिर्देश नियत करने का कार्य चल रहा है, वह समाप्त होनेपर पाठकोंके पास उसके चित्रभी दिये जायंगे ।

[२] बनावटी मुख पहननेकी प्रथा ।

असुरलोग नरमांस खानेवाले, क्रूर और अत्याचारी थे, सुर अथवा देव

'लोग' गणसंस्था के अनुसार रहते थे और इनमें गणस्त्रियों की रीति थी। गणसंस्था का वर्णन हम एक स्वतंत्र लेखमें करेंगे। गंधर्वलोग नाचने गाने और बजानेमें कुशल थे। किन्नर लोग प्रायः जंगली थे। भूतलोग विविध पशुपक्षियोंके बनावटी मुख लगा कर घूमते थे, इसलिये इनको "कामरूपी" कहा जाता था। राक्षस लोग भी इन रीतियोंका प्रयोग करते थे। अश्वमुख उष्ट्रमुख, व्याघ्रमुख आदि पशुओं के मुख बनावटी लगाना और लोगों को डराना इनकी हमेशा की पद्धति थी। दशमुख रावण भी संभवतः अपने सिरपर दस मुखोंकी बनावटी शकल लगाताही होगा। भूतान और हिमालयके कई भागोंमें इस प्रकार बनावटी मुख लगानेकी रीति इस समय भी है। यह रीति महाभारतीय समय में बहुत थी।

इसका उद्देश्य साधारण मूढ जनोंको डराना था। इस समय भी हमारे काले भाई गोरे लोगोंका बूट सूट हैट आदि लगाकर अपने आपको 'बडा साब' बताते हुए रेलोंमें सवार होकर अपनेही गरीब और मूढ भाइयोंको कितना सताते और डराते हैं, यह बात सुप्रसिद्ध है। यही मानवी स्वभाव पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व पूर्वोक्त बनावटी मुखोंके ढांचोंसे व्यक्त होता था। आर्यावर्तके अनपढ लोगों को डराने के लिये और इनसे अपना मनमाना मनोरथ सिद्ध करने के लिये यह किया जाता था।

आर्यलोग न तो राक्षसों के समान नर मांस भोजी थे; न देवोंके समान गणसंस्थासे रहनेवाले, और न भूतों के समान डरावेके लिये बनावटी मुख धारण करने वाले थे। परंतु ये लोग राक्षसोंका शौर्य, देवोंकी सभ्ययुक्ति और भूतों का युद्धकौशल अपना कर अपनी पूर्ण उन्नति करनेमें दक्ष थे। तथापि साधारण जनता थोडीसी बातसे डरने वाली, मरियल, दुर्बल और अज्ञानी ही थी।

सर्पजातिके लोग छिपकर हमला करने वाले थे और वानरजाती प्रायः नंगी ही रहती थी। इनमें बहुत थोडे लोग वस्त्रादिसे आच्छादित भी होते थे। यह जाती इस समयभी म्हैसूर राज्यके जंगलोंमें विद्यमान है, ये कपडा देने परभी उसको पहनना "अधर्म" समझते हैं और अपना छप्पर वृक्षपर ही बनाकर रहते हैं।

पांच सहस्र वर्षोंके समय इतनी जातियोंके लोगोंसे आर्योंका राजकीय, धार्मिक तथा अन्य संबंध होता था। इस समय का मनोरंजक इतिहास महाभारत में पाठक देख सकते हैं, उदाहरण के लिये "बकासुर" की कथा लीजिये। आदिपर्व के १५९ अध्यायसे १६६ अध्याय तक यह कथा है और इसके पढनेसे उस समयके समाजका चित्र पाठकोंके सामने आजाता है। कथा इस प्रकार है—

[३] वेत्रकीय राज्य ।

वेत्रकीयगृह नामक एक छोटासा स्थान अथवा छोटीसी रियासत गंगा नदीके उत्तर किनारे और हिमाचलसे दक्षिण दिशामें थी। यह प्रांत आजकल के संयुक्त प्रांत में लखनौ की उत्तर दिशामें था। यहां एक छोटासा दुर्बल और अनपढ राजा राज्य करता था। इसका वर्णन यह है-

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नय-मिहास्थितः। उपायं तं न कुरु-ते यत्नादपि स मंदधीः ॥९॥ अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम्॥१०॥एत-द्दर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बल-स्य ये। विषये नित्यमुद्विग्नाः कुराजानमुपाश्रिताः ॥

म. भा. आदि. अ. १६२

"इस स्थान में वेत्रकीयगृह नामक एक स्थान है वहां इस देशका राजा रहता है, वह बुद्धिहीन राजा राजनीति-का आश्रय नहीं करता। यद्यपि राक्ष-सोंके वध के लिये वह स्वयं असमर्थ है, तथापि यत्नसे ऐसा कोई उपाय नहीं ढूंढता, कि जिससे इन सब लोगोंके लिये सदा कुशल हो जाय। हम लोग उस दुर्बल और बुरे राजाके भरोसे पर सदा भयभीत होकर के भी उसके ही अधि-कारमें रहते हैं, इसलिये हम ऐसे दुःखके भोगनेके योग्य ही हैं।"

[४] पांडवोंका निवास ।

इस वेत्रकीयगृह नामक छोटीसी रियासतमें एकचक्रा नामक एक नगरी थी, इस नगरीमें एक विद्वान् ब्राह्मणके घरमें गुप्तरूपसे कुंतिसहित पांचों पांडव विद्याध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे गुजारा करते हुए रहते थे। दुष्टदुर्योधन की लाक्षागृहमें पांडवोंको जला मारनेकी युक्तिको पहिले जानकर, गुप्त रीतिसे महामना विदुरजीका सहाय्य लेकर,उस लाक्षा गृहको स्वयं ही आग लगाकर, छिपछिपकर पांडव भागे थे;वे जंगलों और वनोंमें भ्रमण करतेकरते इस एकचक्रा नगरीमें धीमान व्यास मुनिकी प्रेरणासे इसी ब्राह्मण के घरमें रहे थे। सब लोग पांडवोंको जले और मरे ही मानते थे, परंतु केवल महामना विदुर और धीमान व्यासदेव येही दो तथा तीसरा विदुरका शिल्पी इतने तीनलोग पांडवोंका जीवित रहना जानते थे। यदि कौरव इन पांड-वोंका अस्तित्व जानते, तो उनको युक्ति प्रयुक्ति से नष्ट करनेके लिये वे कटिबद्ध ही थे, इसी लिये इस समय पांडवोंको ब्राह्मणोंके पहनावसे वेदाध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे आजीविका करते हुए इस एकचक्रा नगरीमें रहना आवश्यक हुआ था। राजकीय घटनाओंके कारण समय समयपर इस प्रकार गुप्तभाव रखनेके लिये वेषांतर से रहना बडे बडे लोगोंको, भी आवश्यक होता ही है।

जिस ब्राह्मणके घर में पांडव रहते थे उस ब्राह्मणके कुंतिके साथ के भाषण में पूर्वोक्त श्लोक आगये हैं। उन श्लोकोंमें जो इतिहास है, उससे निम्न राजकीय घटना का पता स्पष्ट लगता है—

[५] वेत्रकीय रियासतका दुर्बल राजा।

(१) वेत्रकीयगृह नामक रियासत का राजा अत्यंत दुर्बल, राजनिति न जाननेवाला, स्वयं राक्षसों के साथ युद्ध करनेमें असमर्थ, किसी एक राक्षस का मुकाबला करनेके लिये भी असमर्थ, तथा दूसरे रियासतों की मदत से राक्षसों को हटाने में भी असमर्थ था।

(२) इस रियासत में नगर नगरमें राक्षस रहते थे। वे नगरके बाहिर वनों और उद्यानों में अपने डेरे लगाकर रहते थे और जिस नगर के पास वे अपना डेरा जमा लेते थे, उस नगरसे अपनी आजीविकाके लिये आवश्यक भोजनादिके सब पदार्थ जबरदस्तीसे लेते थे। और न देनेपर उस नगरके लोगोंपर मनमाना अत्याचार करते थे।

(३) इन राक्षसोंको दंड करनेका सामर्थ उन रियासती राजाओं में न था। इसकारण सर्व साधारण जनता के पीछे एक तो अपने निजू रियासती राजाका भय रहता था और दूसरा राक्षसोंका उपद्रव हमेशा रहता था।

(४) इस कारण जनता अत्यंत दुःखी और दीन बनी थी।

जिस एकचक्रा नगरीमें पांडव गुप्त-भाव से रहते थे, उस नगरके समीपके वनमें "बकासुर" नामक एक राक्षस अपने बडे परिवार समेत रहता था, देखिये इसका वर्णन—

[५] नगरके रखवाले असुर।

समीपे नगरस्याऽस्य बको वसति राक्षसः। ईशो जनपदस्याऽस्य पुरस्य च महाबलः ॥ ३ ॥ पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः। रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली ॥ ४ ॥ नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः। तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥ वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्। महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥ ६ ॥ एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्। स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥ ७ ॥

म० भा० आदि० अ० १६२

"इस नगरके निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है। वह पुरुष-खादक इस नगर और प्रदेश का अधीश सा रहता है; मनुष्य के मांससे पुष्ट, बली दुष्टबुद्धि वह असुरराज सदा इस देशकी रक्षा करता है, । इस देशके राक्षसी बल

से रक्षित होनेके कारण अन्य देशसे वा किसी प्राणियोंसे या भूतोंसे हमारे भय की संभावना नहीं है। एक गाडी अन्न, दो भैंसे और एक मनुष्य जो उन्हें ले जाता है,यह सब उस राक्षसके भोजन के लिये वेतनके स्वरूपमें निर्दिष्ट है। इस देशका हरएक गृहस्थ अपनी अपनी बारीमें एक एक दिनके हिसाबसे नित्य वह भोजन पहुंचाता है। बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थके लिये यह कठोर बारी आजाती है।"

इस ब्राह्मण के कथनसे राक्षस के वेतन का स्वरूप ज्ञात होजाता है, तथा कई अन्य बातोंकाभी पता लगजाता है।

(१) अपने असुर देशसे कई राक्षस इस आर्यावर्त में आकर कई ग्रामोंमें अथवा ग्रामोंके बाहर रहते थे।

(२) इन असुरोंका एक एक का भी बल इतना अधिक होता था, कि उनके सामने ग्रामों और नगरोंके लोग अपने आप को बिलकुल दुर्बल समझते थे।

(३) उस समयके भारत वर्षीय रियासतोंके राजा महाराजा भी इन निशाचरोंके सामने अपने आपको दुर्बल समझते थे।

(४) किसी भी रियासती राजाके नगरमें ये राक्षस आकर रहें, तो वह राजा इनको हटानेमें बिलकुल असमर्थ था। इसलिये प्रायः रियासती राजा लोग इनको किसीभी प्रकार का प्रतिबंध कर नहीं सकते थे। इस कारण नगरवासी जनोंपर इनका अत्याचार अत्यधिक होता था।

(५) ये राक्षस ग्राम और नगरोंकी सर्व प्रकारसे रक्षा करने का कार्य अपने ऊपर लेते थे और इनमें यह एक गुण भी था, कि जिस ग्राम की रक्षा करनेकी जिम्मेवारी ये अपने ऊपर लेते थे, उसकी पूर्ण रीतिसे रक्षा कर लेते थे। उस ग्रामपर परशत्रु का हमला होवे, व्याघ्रसिंह आदि का उपद्रव होवे, भूत लोग अर्थात् भूतानी लोग आदिकों का हमला होवे, सब प्रकारके हमलोंसे ये राक्षस उस ग्राम की पूर्ण रक्षा करते थे और स्वयं शत्रुसे लडते थे। इसी कारण वह ब्राह्मण कुंतीसे कहता है कि इस बकासुरके कारण परचक्र आदिसे हमें भय नहीं है, यह उसके अनुभवकी ही बात थी।

[७] नगरकी दुर्बलता।

(६) इस कारण होता यह था, कि प्रतिदिन नगरवासी लोग अधिकाधिक दुर्बल होजाते थे और उसी प्रमाणसे राक्षस अधिकाधिक बलवान होते थे। क्योंकि यदि नगरवासी लोग अपनी रक्षा स्वयं करनेका यत्न करेंगे, तो ही साहस, शौर्य, धैर्य,आदि गुण उनमें बढ सकेंगे; यह काम नगरवासियोंने राक्षसों पर सौंप दिया था, इस लिये नगरवासी दिन प्रतिदिन दुर्बल हो जाते थे, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जो कोई राष्ट्र अथवा

रियासत अपनी रक्षा स्वयं नहीं करेगा, और वह कार्य दूसरों पर सौंप देगा, वह भी इसी प्रकार दुर्बल होता जायगा । जिस प्रमाणसे नगरवासी दुर्बल होते थे, उसी प्रमाणसे राक्षस, रक्षक होते हुएभी अधिक बलवान होनेके कारण, ग्रामवासियों पर अत्याचार भी करनेमें निःशंक होजाते थे । क्योंकि उनको अपनी शक्ति का विश्वास था और नागरिकों की कमजोरीका भी पूर्ण ज्ञान था ।

(७) ऐसी अवस्था में दिन प्रतिदिन राक्षसोंके अत्याचारों की मात्रा बढ जानी स्वाभाविकही है । नगरवासी पूर्ण परावलंबी और राक्षसों की रक्षासे सुरक्षित होनेके कारण राक्षसोंके अत्याचारोंकी कोई सीमा नहीं थी । राक्षस भी मनमें यही समझते थे कि, हमें अब कोई प्रतिबंध करनेवाला नहीं है, ये ग्राम के लोग हमारी दयापर ही जीवित रहने वाले हैं, इसलिये इनसे तो हमें कोई डरही नहीं है।

(८) इस कारण राक्षसोंका स्वभाव यही बनता जाता था, कि "जितनी मौज हो सकती है करो, अब हम ही इस नगर के अधीश हैं, न तो ये लोग हमारा कुछ कर सकते हैं और न तो इस रियासतका राजा हमारा कुछ बिगाड सकता है । इनको तो अपनी रक्षा के लिये हमारी ही शरण लेनी चाहिये ।" राक्षसोंके ऐसे हार्दिक भावके कारण लोगोंके दुःखकी कोई सीमा नहीं थी ।

(८) बकासुरका वेतन ।

(९) इसी कारण एकचक्रा नगरीके रक्षक बकासुर ने उस नगरीके लोगोंसे यह निश्चय कराया था कि प्रतिदिन बारी बारीसे एक एक घरवाला एक गाडीभर अन्न, दो भैंसे और एक आदमी वेतन के रूपमें देवे । आजके बाजारभावसे इस वेतन का मूल्य निम्नलिखित हो सकता है ।

३० तीस गडे अन्नका मू.	१५००) रु.
६० साठ भैंसोंका मू.	३०००) "
३० तीस मनुष्योंका	१५०००) "
बकासुरका मासिक वेतन	१९५००) "

दो भैंसों की एक गाडीमें कमसे कम ५०) पचास रु. का अन्न रहता है, दो भैंसोंका मूल्य १००) सौ रु. है, और आदमी का मूल्य साधारणतः ५००) पांचसौ रु. होगा । अर्थात् प्रतिदिनका बकासुरका वेतन ६५०) रु. होता है । इस हिसाब से उसका मासिक वेतन १९५०० रु. आजकलके बाजार भावसे होता है । किसी स्थानपर धान्य, भैंसे और मनुष्य का मूल्य न्यून वा अधिक भी हो सकता है । परंतु उसका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कई कहेंगेकि उस समय धान्य और भैंसे बहुतही सस्ते होंगे । यह सत्य है, परंतु उसमें बात यह है कि जो कोई मूल्य इन वस्तुओंका उस समय हो, उससे उन नागरिकों पर उतना ही बोझ हो सकता है, कि जितना आज

कल हमारे नगरपर साडे उन्नीस हजार रु० का बोझ होता है। यदि आजकल किसी नागरिकों को प्रतिमास इतना रु. देकर अपनी रक्षा मोल लेनी पडे, तो जितना उनको कष्ट होगा, उतनाही कष्ट एकचक्रा नगरी निवासियोंको होता था।

[९] एकचक्रा नगर की आबादी।

(१०) अब विचार करना है कि एकचक्रा नगरीमें आबादी कितनी थी? इसका भी अंदाजा हम उक्त ब्राह्मणके वचनसे कर सकते हैं।

स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥

म. भा. आदि. अ. १६२।७

"बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थी के लिये यह कठोर वारी आजाती है।"

संस्कृत भाषामें केवल "वर्षाः" यह प्रयोग कमसे कम तीन वर्षोंके लिये होता है और "बहुभिः वर्षैः" यह प्रयोग कमसे कम तीन गुणा तीन अर्थात् नौ वर्षोंके लिये होना संभव है। तथापि नौ दस वर्षोंतक की अवधिके लिये कोई भी मनुष्य "बहुतही वर्ष" नहीं कहता। "बहुत वर्ष" कहनेके लिये कमसे कम वीस वर्ष व्यतीत होने चाहिये। यह बात दूसरेभी प्रमाणसे सिद्ध होती है देखिये। उक्त ब्राह्मण अपनी पत्नीके साथ किये भाषणमें कहता है कि—

क्षेमं यततस्ततो गंतुं त्वया तु मम न श्रुतम्॥ इह जाता विवृद्धाऽस्मि पिता चापि ममेति वै। उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयाऽसकृत्॥२७

म. भा. आदि. अ. १५९।२७

"हे ब्राह्मणी! यह कुबुद्धि तेरीही है, जब कि मेरे वार वार अन्य स्थानमें जानेको चाहनेपरभी तुमने कहा था कि "यह मेरी पैतृक भूमि है यहां मैं जन्म लेकर बुढिया होगई हूं, इसको त्याग नहीं सकती।"

अर्थात इसकी स्त्री वृद्धा बनगई थी। विवाहके बाद इसको दो संतानभी होचुके थे कि जिस दिन इस ब्राह्मण पर भोजन देनेकी वारी आगई थी। यह ब्राह्मण पर पहिलीही वारीथी और अपनी स्त्रीके कारण ही इस नगरमें वह रहाथा, नहीं तो छोडकर दूसरे स्थानपर जाना चाहताथा। स्त्रीका विवाह कन्या होनेके समय अर्थात् १५। १६ वर्षकी आयु में हुआ होगा और इससमय वह स्त्री कमसे कम ३५ वर्ष की अवस्थामें होगी। अर्थात् कमसे कम २० वर्षोंकी अवधि में ब्राह्मणपर एकवार वारी आगईथी। संभवतः अधिक समय व्यतीत हुआ होगा। परन्तु उस नगरकी आबादीका हिसाब लगानेके लिये हम वीस वर्षमें एक वार वारी आती है ऐसा समझेंगे। प्रतिवर्षमें ३६० दिन के हिसाबसे वीस वर्षोंके ७२०० दिन होगये। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम सातआठ

हजार घर उस एकचक्रा नगरीमें होंगे और प्रतिघरं पुरुष स्त्री, दो बच्चे और कए वृद्ध मनुष्य ऐसे पांच आदमी औसद मान लिये जांय, तो आठ हजार घरोंके ग्राममें चालीस हजार की आबादी होना संभव है।

चालीस हजार की आबादीके ग्रामसे साडे उन्नीस हजार रु. का वेतन प्रतिमास राक्षस लेताथा, अर्थात् प्रति आदमी प्रतिमास आठ आने देने पडतेथे, इसके अतिरिक्त उस रियासत के राजा का करभार होगा, तथा स्थानिक व्यय और ही होगा। जो ग्राम सा[illegible]ों द्वारा अपनी रक्षा कर नहीं सकता, उनको इसी प्रकार जुर्माना देना ही पडता है।

(११) प्रतिदिन एक घरसे भोजन भेजनेका नियम था। नियम पूर्वक भोजन भेजागया तो ठीक, नहीं तो वह राक्षस उस घरका नाश जैसा मर्जी आये करता था। इस प्रकार उस नगरी के लोग अपना अपना भोजन भेजकर अपना बचाव कर लेते थे। यदि किसीके घर भेजने योग्य मनुष्य न हो अथवा बारीवाला मनुष्य धनाढ्य हो, तो वह किसी दूसरे मनुष्यको मोल लेकर भी अपना काम चला लेता था। इसी लिये ब्राह्मण उस समय कहता है कि—

[१०] आदमीका विक्रय।

सोऽयमस्मानुप्राप्तो वरः कुलविनाशनः। भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥१५॥ न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।

म० भा० आदि० अ० १६२

"आज हमारी कुलनाशी वह बारी आयी है, राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें एक मनुष्य मुझको देना पडेगा। पर मेरे पास इतना धन नहीं है, कि किसी स्थानसे एक मनुष्यको मोल लेकर दूं।"

(११) अर्थात् धनिक लोग मोलसे मनुष्य खरीद कर राक्षसके भोजन के लिये अर्पण करते थे और उस समय मनुष्य भी इस प्रकार बेचे जाते थे! आज कल विवाहके लिये लडकी मोल लेने की निंद्य रीति कई स्थानोंपर है, परंतु मरवानेके लिये आजकल आदमी मोल से नहीं मिल सकेगा। परंतु उक्त ब्राह्मण के भाषणसे पता लगता है कि, उस समय आदमी मोलसे मिलनेकी भी संभावना थी !!

(१२) इतना विचार होनेके पश्चात् यह प्रायः निश्चय हुआ कि, उस एकचक्रा नगरीमें कमसे कम चालीस हजार की आबादी थी, और प्रतिदिन उक्त वेतन उस राक्षसको पहुंचाना पडता था। न देनेपर वह राक्षस उस बारीवाले गृहस्थीका पूरा नाश कर डालता था। एक असुरजातिका मनुष्य और उसके साथ तीस चालीस छोटे मोटे असुर

होंगे, इनका अत्याचार चालीस हजार नगरवासी चुपचाप सहन करते थे। चालीस हजार नगरवासी लोग बक राक्षसकी सहायताके बिना स्वयं अपना बचाव कर नहीं सकते थे। और उस राक्षसको हटाना भी उस नगरकी शक्तिके बाहर था। विचार कीजिये कि उस नगरके लोग कैसे दुर्बल होंगे।

[११] राक्षस के विरोध का फल।

(१३) समय समय पर कई नागरिक उस राक्षससे बचजानेका यत्नभी करते थे, परंतु उनकी बडी दुर्गति होती थी, देखिये—

> तद्विमोक्षाय ये केचिद्यतन्ति पुरुषाः क्वचित् । सपुत्रदारांस्तान्हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत ॥ ८ ॥
>
> म० भा० आदि० अ० १६२

"यदि कभी कोई इससे बचनेकी चेष्टा करता है, तो वह राक्षस स्त्रीपुत्रोंके साथ उसको मारकर खाजाता है।" यह अवस्था थी। अर्थात् उक्त नियमसे बचने की चेष्टा करनेपर वह राक्षस उस रियासती राजा की अदालत में नालिश नहीं करता था, परंतु उस राजा से विना पूछेही नगरमें आकर उस बारीवाले घरके सब आदमीयों को मारकर खा लेता था और उसका सब घर ही नष्टभ्रष्ट कर लेता था। और यह सब अत्याचार अन्य नागरिक देखते रहते थे, इतनी दुर्बलता उन नागरिकोंमें थी। यदि उनमें संघशक्ति होती, और शौर्यवीर्यादि गुण थोडे भी रहते, तो उस राक्षसको हटाना चालीस हजार आबादी वाले नगरको कोई अशक्य नहीं था। परंतु संघशक्तिके अभाव के कारण ही वह नगर इतना कमजोर बनगया था। हरएक मनुष्य केवल अपना हित ही साधन करनेमें दत्तचित्त था और सब मिलकर संघशक्ति बनाकर अपनी रक्षाके लिये तैयार होनेकी बुद्धि किसीमें भी नहीं थी।

[१२] मनकी दुर्बलता।

चालीस हजार आबादीका नगर असुर देशके एक राक्षस के भयंकर अत्याचार सहन करता है, और उसके विरुद्ध अपना हाथ तक नहीं उठाता, इससे अधिक उस नगर वासियोंको लज्जास्पद बात तो कौनसी हो सकती है ? देखिये उसी ब्राह्मणके शब्दोंमें उस समयकी अवस्था—

> न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम्॥ २ ॥
>
> म. भा० आदि. अ० १६२

"यह दुःख दूर करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।" अर्थात् यदि कोई दूसरा "राक्षस" लाया जाय, अथवा कोई तिब्बत का "देव" आजाय तो ही उस राक्षसको हटाया जा सकता है, इस नगर का कोई भी मनुष्य राक्षस का प्रतिबंध

नहीं कर सकता । यह हरएक के मनमें निश्चित भाव रहना ही उन नागरिकों की हद दर्जेका कमजोरीका पर्याप्त प्रमाण है ।

इस बकासुरका वध भीमसेन ने किया। अर्थात् कीकर सिंग जैसा अकेला मनुष्य भी उस राक्षस को मार सकता था परंतु शोककी और साथ साथ लज्जा की बात यही है कि, चालीस हजार आबादीके नगरमें समय पर दस पांच भी पहिलवान नहीं निकल सके !! यह उस नगरकी कमजोरी थी । इससे अधिक कमजोरी होना ही संभव नहीं है ।

[१३] शस्त्रास्त्रोंसे अनभिज्ञ असुर ।

भीमसेन ने मल्लयुद्ध अर्थात् कुस्ती करके बकासुर को मारा । इस समय बकासुरके अनुयायियोंने अथवा स्वयं बकासुरने किसी भी शस्त्र या अस्त्रका प्रयोग भीमसेन पर नहीं किया । यदि बकासुरके डेरेमें शस्त्रास्त्र रहते, तो वे उस के अनुयायी अपने बक राजाके मृत्युके समय भी शत्रुपर प्रयुक्त न करते, यह संभव ही नहीं था । अर्थात् ये असुर कमसे कम बकासुर और उसके अनुयायी शस्त्रास्त्र जाननेवाले नहीं थे। केवल शारीरिक बल, लाठी, पत्थर तथा इसी प्रकारके अन्य साधनों से लडनेवाले क्रूर आदमी थे । इस प्रकारके पचीस तीस क्रूरकर्मा असुरों का भय चालीस हजार की आबादीके नगरवासियोंको कई साल सता रहा था और वे इसका बिलकुल प्रतीकार कर नहीं सके थे । पाठक ही सोच सकते हैं, कि इस प्रकार के कमजोर और दुर्बल नगरवासियोंको जीवित रहनेका भी अधिकार क्या है ? चालीस हजार लोगोंने संघशक्तिके साथ एक एक तिनका भी फेंकदिया होता, तो उस के नीचे वह राक्षस दब जाता, परंतु संघशक्तिके अभाव के कारण ही वह राक्षस इस ग्रामको इतना सता रहा था भीमसेन ने उसको मारा और उस एकचक्रा नगरीको तथा उस वेत्रकीय रियासतको असुरके भयसे मुक्त किया ।

जिस भयको अकेला तेजस्वी वीर हटा सकता है, उसको चालीस हजार डरपोक दुर्बल आदमी भी हटा नहीं सकते । जिस समय भीमसेन ने बकासुर का वध किया, उस समय बकके सभी अनुयायी घबराये, देखिये इसका वर्णन-

[१४] बकासुरका वध ।

ततः स भग्नपार्श्वांगो नदित्वा भैरवं रवम् । शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद्बकः ॥१ तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः । निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः ॥२॥ तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः । सान्त्व-

यामास बलवान्समये च न्यवेदयत् ॥ ३ ॥ न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित् । हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत । एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५॥ ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत । नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥६॥

म० भा० आदि १६६

"बडे भारी बक राक्षसने देह टूटने पर बडा कोलाहल मचाता हुआ प्राण छोडा। उसके परिवार वर्ग उस शब्दसे भय खा कर नौकर चाकरोंके साथ घर से निकलकर भीमके पास आ गये ! मारनेमें तेज महाबली भीमसेनने उनको भयभीत और ज्ञानरहित देखकर समझाया और यह कहकर उनसे प्रतिज्ञा करा ली, "तुम फिर कभी मनुष्य न मारना, यदि मारोगे, तो तुमको ही तुरन्त ही इस प्रकार नष्ट होना पडेगा।" राक्षसों ने वृकोदर की यह बात सुनकर, उस बात को मान करके उस नियमको स्वीकार किया। तबसे नगरवाले उस नगरमें राक्षसोंको शांतस्वभावी देखने लगे।"

(१) भीमसेनके उस बकासुर को मारने पर वहांके अन्य सब राक्षस जिन में (दाक्षिणात्य महाभारतके अनुसार) बकासुर का एक भाईभी था, सबके सब डर गये और भीमसेन को शरण आगये। बडे नरम हुए। इस वर्णन से पता लगता है, कि वे राक्षस भी अपने जीव को अन्य मनुष्योंके समानही सुरक्षित रखना चाहते थे। जबतक मनुष्य डरते थे, तबतक ही उनका अत्याचार चलता था; परंतु जब मनुष्य भी उनको ठोक देने को तैयार हो जाते थे, तब वेभी मनुष्यों के समानही डर जाते थे। अर्थात् ये राक्षस मनुष्यों के समान ही थे, परंतु थोडे अधिक क्रूर थे। अतः यह स्पष्ट है कि चालीस हजार आबादीके नगरवासियोंको इतने साल डरानेवाली कोई बात उनमें नहीं थी। परंतु शहर वासियोंकी अक्षम्य बुझदिलीके कारण ही वे शहर को सता रहे थे।

[१५] असुर नरम हुए।

(२) भीमसेन ने उन राक्षसोंका संहार नहीं किया, प्रत्युत एक प्रशंसनीय आर्य वीर के योग्य ही उन सब राक्षसों को समझाया और उनसे प्रतिज्ञा करवायी, कि "वे इस समयके पश्चात् किसी मनुष्यका वध न करें।" सब राक्षसोंने भीमसेन के सामने मनुष्य वध न करनेकी प्रतिज्ञा की और अपनी जान बचाई!! भीमसेन ने यह भी उनको निश्चयके साथ कहा कि, यदि फिर मनुष्यवध करोगे, तो उसीसमय तुम सबको

इसी प्रकार मार देंगे। इसप्रकार राक्षसों को आर्यसभ्यता सिखानेवाला यही पहिला आर्यवीर था। इसका परिणाम भी उन राक्षसों पर अच्छा ही हुआ।

(३) उस दिनसे वहांके सब राक्षस नम्र हुए। शहरमें घूमनेके समय राक्षस नीचे मुह करके चलने लगे। नहीं तो पहिले उस शहरमें राक्षस छाती ऊपर करके घूमते थे और किसी भी आदमी का अपमान करनेमें उनको कोईभी संकोच नहीं होता था। किसी गृहस्थने यदि उनको पूर्वोक्त वेतन न दिया, तो उस के सर्वस्वका नाश करने और उसके घरके सब आदमियोंको मारकर खानेमें भी उनको कोई संकोच नहीं होता था। परंतु वेही राक्षस उसी शहरमें आनेके समय डरने लगे!! परिवर्तन केवल अकेले नगरवासी के धर्य दिखानेसे हुआ। यदि उस नगरमें इस प्रकार धीरवीर दो चार भी पुरुष रहते, तो उनको कोई कष्ट होना संभव ही नहीं था। परंतु इस घटना से भी उस नगरके आदमियोंने कोई बोध नहीं लिया, देखिये—

[१६] कर्तव्यमूढ जन।

तत्राऽऽजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्री-
वृद्धकुमारकाः॥ १२॥ ततस्ते
विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वाति-
मानुषम्। दैवतान्यर्चयांचक्रुः
सर्व एव विशांपते॥ १३॥

म. भा. आदि. अ. १६६

"स्त्री, वृद्ध, बालक, तरुण आदि सब नगरवासी लोग उस मरे हुए बकराक्षस को देखनेके लिये वहां आगये और वह अमानुष कर्म देखकर सभी विस्मित हुए। उसके बाद सब लोग देवतों की उपासना करने लगे।"

देखिये बकासुर का वध एक मनुष्य ने किया, यह देखनेके बाद भी उस नगरके निकम्मे लोग अखाडे खोल कर और अपने आपको मल्लयुद्ध में प्रवीण बनानेका यत्न न करते हुए, मंदिरोंमें देवताओंकी पूजा करने और घंटे बजानेमें मस्त रहे! हमारा यह विचार नहीं है कि आनंद होने पर अपनी इष्ट रीतिसे ईश्वरकी उपासना कोई न करे; परंतु यहां बताना यह है कि एक, बलवान मनुष्य द्वारा उस राक्षस का वध होने की बात प्रत्यक्ष देखनेपर भी अपना बल और अपनी संघशक्ति बढाने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई, उन्होंने नगरमें आखाडे नहीं खोले, नवयुवकोंको व्यायाम और कुस्ती करके बल बढाने में उत्तेजित नहीं किया, परंतु अपने अपने मंदिरोंमें जाकर केवल पूजा पाठ ही करने लगे और खूब प्रार्थना भी उन्होंने की होगी!!

तात्पर्य प्रत्यक्ष बना हुई घटनासे भी लेने योग्य बोध नहीं लिया!! क्या जो लोग इस प्रकारके कर्तव्य-शून्य होंगे, वे कभी भी अपनी रक्षा कर सकते हैं?

कभी नहीं । उनपर यदि बकासुर न रहा, तो दूसरा हिडिंबासुर आकर हुकुमत चलायेगा ही । इस बकासुर की लीलासे अपनी शक्ति बढानेका बोध हरएक ग्राम निवासीको लेना चाहिये, अपनी रक्षा स्वयं करना चाहिये, इत्यादि भाव स्पष्ट ध्यान में आसकते हैं ।

[१७] इस कथासे बोध।

बकासुर की कथा का निरीक्षण करने से उस समय की सामाजिक स्थिति का जो चित्र मनके सन्मुख खडा होता है, वह ऊपर दिया ही है। पाठक ही विचार करें कि क्या यह चित्र समाधान कारक है? जो न्यूनता उस नगर वासियोंमें थी, वह अपनेमें है वा नहीं, इसका विचार पाठकों को करना चाहिये। यदि उस प्रकारकी न्यूनता होगी, तो उसको दूर करना चाहिये। यही बोध प्राचीन कथाके पढनेसे लेना उचित है।

पाठक पूछेंगे कि अब राक्षस ही नहीं हैं, इस लिये अब हमें बल बढाने की क्या आवश्यकता है? जो मनुष्य आजकी स्थितिभी देखेंगे, अपने आंख खोलकर चारों ओर देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि इस समयका हरएक नगर, उतनाही कमजोर है, कि जितने एकचक्रा नगरीके लोग थे। कलकत्ते जैसे बडे भारी नगर, कि जिसकी आबादी दस लाख से भी अधिक है, वहां के लोग सौ पचास पठाणोंके दंगेके समय भी अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते हैं, उतनाही बडा बम्बई शहर है, वहां भी पठाणोंका उपद्रव इतना है कि लोग बडे ही क्लेशित हुए हैं और अंतमें अखबारोंमें "लेख" पठाणोंके विरोधमें लिख मारते हैं!! उस लेखसे पठाणोंका बिगडना क्या है? बंबईके कई मूर्ख धनिक इस समय भी यह समझते हैं, कि अपने घरकी रखवारी पठाण के द्वारा ही अच्छी होती है, इसका परिणाम उनको अंतमें बहुतही बुरीरीति से भोगना पडता है।! महाराष्ट्रमें प्रायः छोटे मोटे ग्रामों में दोचार पठाण रहते ही हैं और लेनदेनका व्यवहार करते हैं। जो गरीब लोग विशेषतः गरीब औरतें उनसे रुपये लेती हैं, उन को इतने कष्ट भोगने पडते हैं कि, उनका वर्णन यहां करना असंभव है। यह बीमारी यहां तक ही समाप्त नहीं होती । पूनाके पेशवाओं के देवता मंदिरकी रक्षा के लिये रखवारे पठाण अथवा रोहिले ही थे। पेशवाओं का धुरंधर दिवान नाना फडनवीस की आत्मरक्षा के लिये भी वेही नियुक्त थे। इससे यह होता था कि जिस समय ये पठाण लोग बिगड बैठते थे, उस समय स्वयं पेशवाओं परभी बडी भारी आफत मच जाती थी !! जिसप्रकार पांडवोंके समय वेत्रकीय रियासतमें एकचक्रा नगरीका रक्षण ये असुर देशीय राक्षस कर रहेथे उसी प्रकार स्वयं पेशवाओंके भवन पर ये विदेशी पठाण और रोहिले ही

रक्षक थे। देखिये ये रक्षक कहांतक फैले हैं !!

जो अवस्था महाराष्ट्रकी है वही मध्यप्रांत और संयुक्तप्रांतमें अंशतः है। पंजाब के लोग बहुत वीर हैं, परंतु सीमाप्रांतके ग्रामोंमें आफ्रीडी पठाणों के कारण इनको इतने कष्ट इस समयभी होते हैं कि, उनका वर्णन सुननेसे हृदय फट जाता है।

जब इस बीसवी सदीमें संपूर्ण सभ्यता इतनी बढ जानेपर और शस्त्रास्त्र इतने उन्नत होनेपर भी पठाणादिकोंसे भारतीय जनताको इतने क्लेश सांप्रतमें हो रहे हैं, तो सहस्रों वर्षोंके पूर्व जिससमय जनतामें कई प्रकारकी कमजोरियां थीं। उस समय पठाणों और रोहिलों की अपेक्षा सेकडों गुणा क्रूर और नरमांसभोजी खून पिनेवाले असुर देशीय राक्षसोंसे पूर्वोक्त प्रकार एकचक्राके नगरवासियोंको कष्ट हुए, तो कमसे कम आजकलके भारतीय नागरिकोंको अपने पूर्वजोंको हंसी करने का अधिकार तो बिलकुल नहीं है। क्यों कि एकचक्रानगरी के रहिवासियोंके समानही आजकलके हिंदुस्थानी अपने ग्राम, नगर, प्रांत और राष्ट्र का संरक्षण करनेमें वैसेही असमर्थ हैं। भेद इतनाही है कि उस समय उनके पास एक भीम था और इस समय कोई भीम नहीं है और इसके साथ भारतीय जनता आपस की फूटसे शतधा विदीर्ण है। इसलिये पाठक ही विचार कर सकते हैं कि गत पांच सहस्र वर्षों में स्वसंरक्षण करने के विषय में हम सुधर गये हैं या बिगड गये हैं? इसका विचार करनेके पश्चात् इस कथासे उचित बोध हरएकको लेना चाहिये। वह बोध यही है कि, हरएक व्यक्ति, कुटुंब, ग्राम, नगर प्रांत और, देशको अपना संरक्षण करनेकी और दूसरोंकी रक्षा करनेकी शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। कमजोर रहने वालों का जीवित वैसाही कष्टमय होगा जैसा कि एकचक्रा नगरीनिवासियोंका होगया था। बकासुर सदा सर्वत्र रहते ही हैं, यदि पूर्वकाल में बकासुर मनुष्योंका रक्त प्रत्यक्ष पीते थे, तो इस समय अन्य रीतिसे सताते होंगे और भविष्य में कोई दूसरीही रीति ढूंढेंगे, सतानेकी रीति भिन्न होनेपर भी क्लेशोंकी मात्रा न्यून नहीं होती, यह ध्यानमें धरना चाहिये। बकासुर जनताको क्यों सताते हैं? इसका उत्तर यही है कि जनता वैदिक उपदेशानुसार चलती नहीं। वेदका उपदेश बलसंवर्धन के विषयमें प्रसिद्ध ही हैं, उनमें से यहां नमूनेके लिये एकही मंत्र देखिये—

[१८] वैदिक उपदेश।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥

अथर्व. १२।१।५४

मैं इस (भूम्यां) अपनी मातृभूमिमें

(उत्तरः नाम) अधिक श्रेष्ठ हुआ हूं, मैं (सहमानः) विजयी हूं, मैं (अभीषाड्) सब प्रकार से शत्रुका पराजय करनेवाला (विश्वाषाट्) सर्वत्र विजयी और (आशामाशां) प्रत्येक दिशामें (विषासहिः) विजयी हूं।

जो नागरिक इस प्रकार अपने आपको विजयी बनने योग्य बलवान बना सकते हैं, वेही बकासुरको हटासकते हैं, जो नहीं बना सकते वे बकासुर के पेटमेंही चले जांयगे।

महाभारत के कथाप्रसंगोंमें राजनीति की शिक्षा किस ढंगसे होती है, वह इस कथाके मनन से पाठक देख सकते हैं। इसलिये निवेदन यह है, कि इन कथाओं को गपोडे कहके झटपट फेंक देना उचित नहीं है, परंतु मननद्वारा इन कथाओंसे उचित बोध ही लेना चाहिये।

वैदिक उपदेशानुसार न चलनेसे एकचक्रा नगरीको कैसा दुःख उठाना पडा था और वैदिक उपदेशानुसार अपना बल बढानेवाला अकेला भीमसेन उस नगरके रहिवासियोंका हित किस प्रकार कर सका, यही बात इस कथामें देखनी है और इससे उचित बोध लेना है आशा है कि पाठक इससे अपना लाभ होने योग्य बोध लेंगे।
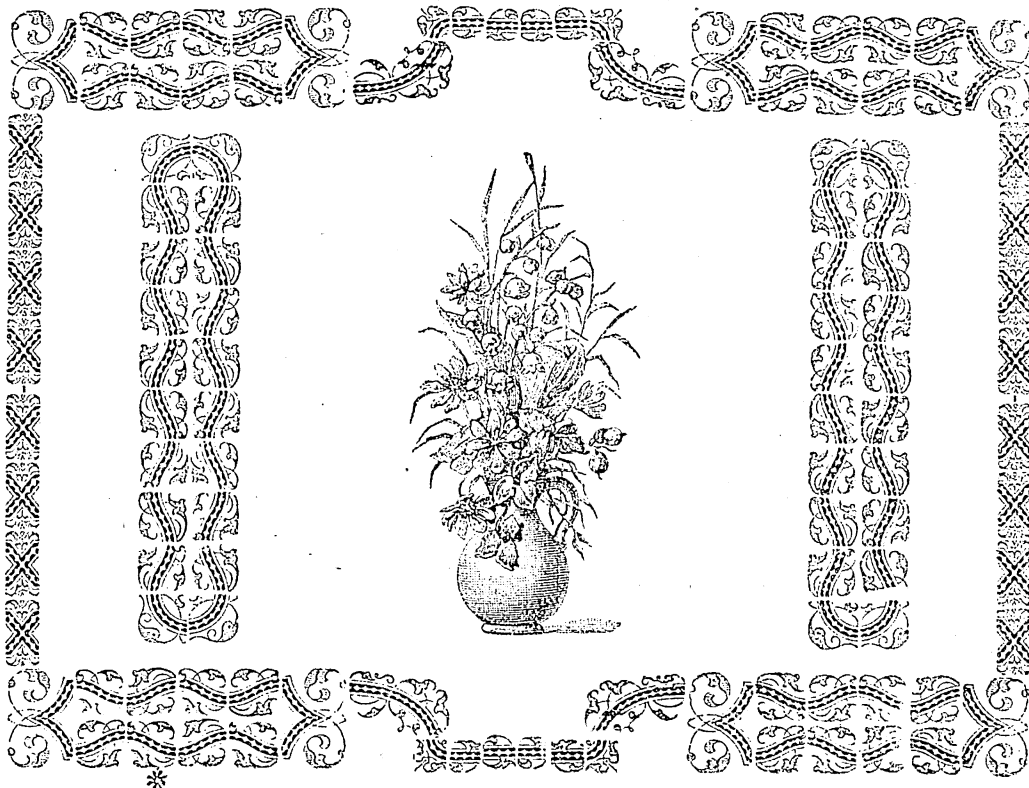
महाभारत और महायुद्ध।
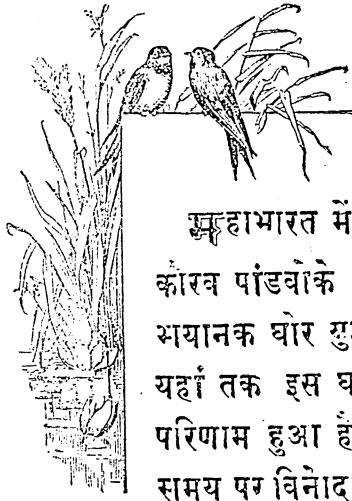
महाभारत में मुख्य कथा कौरव पांडवोंके आपस के भयानक घोर युद्ध की है। यहां तक इस घोर युद्ध का परिणाम हुआ है कि, समय समय पर विनोदसे "महाभारत" शब्द "महायुद्ध" के स्थानपर भी प्रयुक्त किया जाता है! इतना होनेपरभी महाभारतमें जैसा "एकताका पाठ" दिया है, वैसा किसी अन्य पुस्तकमें नहीं है, यह बात हरएक महाभारतका पाठक जानता ही है।

महाभारतमें कौरव पांडवोंकी आपसकी फूट का वर्णन है, परंतु उस फूटके मिषसे "एकता का पाठ" व्यास मुनिने पाठकों को पढाया है। वेदमें कहा है कि—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अथर्व ३।३०।३

"(१) भाई भाईका द्वेष न करे, (२) बहिन बहिनसे न झगडा करे, (३) तुम मिलजुलकर, एक कार्यमें रत होकर, कल्याणपूर्ण भावनासे आपसमें भाषण करो।"

यह वेदकी शिक्षा कौरव पांडवोंके आपसके व्यवहारमें नहीं रही, इस कारण भारतीय महायुद्धका कठोर प्रसंग उत्पन्न हुआ। यह युद्धका प्रसंग देखनेसे भी पाठकोंके मनमें यही बात जम जाती है कि, यदि ये भाई भाई आपसमें न लडते, तो ही उनका अधिक कल्याण हो जाता। अर्थात्, "आपसके झगडोंसे आपसकी एकता ही अच्छी है।"

महायुद्धका परिणाम।

कौरव पांडवोंके महायुद्ध का परिणाम देखनेसे भी यही बोध मिलता है। कौरवोंका तो समूल उच्छेद ही हुआ, और यद्यपि देखनेके लिये पांडवों का विजय हुआ, तथापि इस विजयसे पांडवों का किसी प्रकार भी लाभ नहीं हुआ। यह विजयभी एक प्रकार का दुःखकारक ही पांडवोंके लिये हुआ, इस में संदेह ही नहीं है।

सम्राट् युधिष्ठिर तो अंततक शोक ही शोक करता रहा, अर्जुन ने इसके पश्चात् कोई विशेष पराक्रम भी नहीं किया और भीम की शक्ति भी क्षीणता को ही प्राप्त होती गई । यहां तक अवस्था पहुंच गई थी की, अंतमें अर्जुन का पराजय चोरोंके द्वारा हुआ और इस कारण स्त्रियों का भी अपमान हुआ । इधर यादव भी आपस की फूटसे और मद्य के व्यसनसे नष्ट भ्रष्ट होगये और अर्जुन के दिग्विजयके कारण किसी प्रकार भी आर्य साम्राज्यका सुख बढा नहीं !

इस भारतीय महायुद्ध के कारण भारतवर्ष के लाखों शूर वीर मृत्युके वशमें चलेजानेके कारण यह भूमि प्रायःक्षात्र तेजसे विहीन होगई और [illegible] लोगों के लिये यहां [illegible] सुकर होगया । यह सब घोर परि[illegible] हम इस समय तक भोग रहे हैं । महायुद्ध का परिणाम वीर अर्जुन जानता ही था, इसीलिये वह युद्ध के प्रारम्भमें श्री कृष्ण चंद्र जीसे कहता है कि-

> न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥ तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान् स्वबांधवान् । स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनःस्याम माधव ॥३७॥ यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः । कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं ॥ ३८ ॥ कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् । कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन । ॥ ३९ ॥ कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः । धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४० ॥ अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः । स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः४१ संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥ ४२ ॥
>
> भ० गीता अ० १

(१) स्वजनोंको युद्धमें मार कर कल्याण नहीं देख पडता, (२) इसलिये हमें अपने ही बांधव कौरवोंको मारना उचित नहीं है । हे माधव ! स्वजनोंको मारकर हम सुखी क्यों कर होंगे ? (३) लोभसे जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है, उन्हें कुलके क्षयमे होने वाला दोष और मित्रद्रोहका पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षय का दोष हमें स्पष्ट देख पडता है, अतः इस पापसे पराङ्मुख होनेका विचार हमारे मनमें आये बिना कैसे रहेगा ? (४) कुल का क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं और इसकारण संपूर्ण कुलही अधर्ममें पतित होता है, (५) अधर्म बढ जाने से कुलस्त्रियां बिगडती हैं, (६) स्त्रियां बिगड जानेसे वर्ण संकर होजाता है

और संकर होनेसे वह कुलघातक को और कुलको नरकमें लेजाता है ! "

इस रीतिसे युद्धके दोषोंका और राष्ट्र पर होनेवाले घोर स्थायी परिणामोंका वर्णन वीर अर्जुन कर रहा है। हरएक महायुद्धसे इसी प्रकार कठोर परिणाम होते हैं। तरुण और कर्मकुशल पुरुषार्थी वीर युद्धमें मर जाते हैं और राष्ट्र में केवल बालक, बुड्ढे, और स्त्रियां रह जाती हैं। तरुणोंका नाश होनेसे तरुणी जवान स्त्रियों की प्रवृत्ति दुराचार में होजाना स्वाभाविक ही है। आचारभ्रष्ट स्त्रियोंसे जो संतति होजाती है, वह व्यभिचारसे दुष्ट होनेके कारण शील युक्त और उच्च भावयुक्त नहीं हो सकती, इसलिये महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रका अधःपात होजाता है। राष्ट्रका शील, सदाचार और वीर्य नष्ट होता है। राष्ट्र हित की दृष्टिसे यह भयानक और अति घोर अधःपात है। यह इतिहासिक सत्य वीर अर्जुन के शब्दों में ऊपर बताया है।

महाभारतीय युद्ध होनेके पूर्व कालमें जो वीर्य, उत्साह और पराक्रम की शक्ति आर्य क्षत्रियोंमें थी, वह पश्चात् के कालमें नहीं रही इसका कारण उक्त वर्णन में ही पाठक देख सकते हैं। इतना घोर अनर्थ परिणामी युद्ध करने के लिये श्रीकृष्णभगवान् जैसे अद्वितीय पूर्ण पुरुष अर्जुन को प्रेरित करते हैं, क्यों कि उस समय यह महायुद्ध अपरिहार्य सा हुआ था। अधर्म इतना बढ गयाथा कि, उसका परिणाम युद्धमें होना स्वाभाविक ही था। तात्पर्य यह कि, महायुद्ध अपरिहार्य हो अथवा कैसा भी हो, परंतु उसका घोर परिणाम जनता को कई शताब्दियोंतक भोगना ही पडता है। इसलिये श्रेष्ठ सज्जन जहांतक बन सके वहांतक युद्ध करनेसे पीछेही हटते हैं। महामना युधिष्ठिर, योगेश्वर श्रीकृष्ण आदि सत्पुरुषों ने पूर्वोक्त भारतीय युद्ध न करनेके लिये अपनी तरफसे पराकाष्ठा तक यत्न किया था, परंतु दुर्योधन की उद्दंडता के कारण युद्ध करनाही आवश्यक हुआ। इत्यादि वर्णन महाभारत में पाठक पढेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि, युद्धका वर्णन करते हुए भी व्यासदेव जी की परम शुद्ध बुद्धिने युद्धसे निवृत्त होनेका ही उपदेश महाभारतमें किया है।

अर्थात् महाभारत का लेखन युद्धों को बढानेके लिये नहीं हुआ, परंतु महायुद्धका घोर परिणाम दिखलाकर जनता को युद्ध से निवृत्त करनेके लियेही हुआ है। इसके साधक कथाप्रसंग महाभारतमें कई हैं, उनका थोडासा वर्णन यहां करना है-

आपस में झगडनेवाले दो भाई।

महाभारत आदिपर्व अ० ६९ में यह निम्न लिखित कथा आगई है उसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है—

" एक अतिक्रोधी महर्षि विभावसु था और उसका तपस्वी भाई सुप्रतीक था। सुप्रतीक छोटा भाई और विभावसु बडा भाई था। छोटे भाईकी इच्छा थी कि, पैत्रिक धन एकत्र न रहे, इसलिये वह वारंवार संपत्ति बांटनेकी बात बडे भाईसे कहता था। परंतु बडा भाई अच्छा समझदार था, वह एकतासे रहनेमें लाभ है, यह बात जानता था। इसलिये वह वारंवार छोटे भाईको निम्न लिखित रीतिके अनुसार समझाता था-

विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः। ततो विभक्तास्त्वन्योऽन्यं विक्रुध्यन्तोऽर्थमोहिताः ॥ १८ ॥
ततः स्वार्थपरान्मूढान्पृथग्भूतान्स्वकैर्धनैः। विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥१९॥ विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ। भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥ २० ॥
तस्माद्विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसंति साधवः। गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशंकिनाम् ॥ २१ ॥ नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ॥ २२ ॥

म० भारत आदि० अ.२९

"भाई! बहुतेरे मनुष्य मूढ बनकर पैत्रिक धन बंटवाना चाहते हैं, परंतु बंट जाते ही धन प्राप्त होनेके बाद धनके लोभसे मोहित हो कर आपसमें झगडा करते हैं। स्वार्थी और अज्ञानी भाईयोंके अपना अपना धनका भाग ले कर अलग होते ही शत्रुलोग, अपने आपको मित्र और हितकारी बनाकर, उन भाईयोंके अंदर बडा विद्वेष खडा कर देते हैं। आगे जब उन भाइयोंमें शत्रुता बढ जाती है, तब वेही शत्रु उनकेही दोष निकालने लगते हैं। इससे उन भाईयोंका पूर्ण नाश हो जाता है। इसी कारण साधुलोक गुरु और शास्त्रोंकी आज्ञा न माननेवाले और आपसमें लडने वाले भाइयोंके अलग होनेकी प्रशंसा कभी नहीं करते। इसलिये हे भाई! तुम अपने ही भाईसे बिगड कर धनकी अभिलाषा कर रहे हो," यह ठीक नहीं है।

यह उपदेश कितना अच्छा है। प्रत्येक स्थानके भाईयोंको यह सदा सर्वदा ध्यानमें रखना योग्य है। आज कल अदालतोंमें झगडनेवाले और वकीलोंके पेटमें हाजम होनेवाले भाईयोंने यह उपदेश अपने हृदयोंमें सुवर्णाक्षरोंसे अंकित करना चाहिये। वेदमें—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् ॥

अथ. ३।३०।३

"भाईभाईसे द्वेष न करे, " यह जो उपदेश दिया है, वह पाठकोंके मन में सुदृढ करनेके उद्देश्यसे ही यह कथा महा-

भारतमें रखी है। अस्तु।

आपसके झगडनेका परिणाम।

उक्त प्रकार आपसमें झगडनेवाले पूर्वोक्त तपस्वी भाई आपसके द्वेषके कारण दूसरे जन्ममें पशु बन गये। छोटा भाई बडाभारी हाथी बना और बडा भाई कछुआ बना। कश्यपाश्रमके निकटके सरोवरमें दोनों बडे लडते रहे! पश्चात् दोनों लडनेवाले भाईयोंको खाकर हजम करनेवाला तीसरा ही गरुड वहां आया, और उसने-

नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत्। समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः॥३८॥
म० भा० आदि० अ० २९

"आगे अतिवेगवान गरुड पक्षी अपने एक नखसे हाथी और दूसरे नखसे कछुए को लेकर आकाशमें उडगये।" पश्चात्-

ततस्तस्य गिरेः शृंगमास्थाय स खगोत्तमः। भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ॥३०॥ म० भा० आदि अ० ३०

"अनंतर पक्षीराज गरुड पहाडकी चोटीपर बैठकर हाथी और कछुआ इन दोनोंको खा गया।" इस रीतिसे आपस में झगडा करनेवाले दोनों भाई तीसरे के ही पेटमें चले गये!!! आपस के झगडे का यह परिणाम है!!

यद्यपि भगवान् व्यास देवजीने यह कथा "हाथी और कछुवे" के नामोंसे लिखी है, तथापि उसकी सत्यता मानवी समाजमें भी सत्य है। इस कथाको पढने से निम्न लिखित बातें ध्यानमें आजाती हैं—

(१) दो तपस्वी भाई आपसमें धन के लोभसे झगड रहे थे।

(२) अंतमें वे पशु बन गये, और पश्चात्—

(३) वे दोनों। तीसरेके पेटमें चले गये आपसमें झगडा करनेवाले भाईयों का यही परिणाम होता है। देखिये—

(१) दो भाई पैत्रिक धनके कारण आपसमें झगडते हैं-

(२) कुछ कालके बाद उनका मनुष्यपन दूर होता है और वे आपस में पशुवत् व्यवहार करने लगते हैं। अंतमें—

(३) वे दोनों वकीलों के पेटमें जाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे उनका नाश होता है।

यही सत्य राष्ट्रके इतिहासमें भी ऐसा ही सत्य है, देखिये—

(१) एकदेशकी दो जातियां आपसमें लडतीं हैं,

(२) झगडते झगडते उनका आपसका व्यवहार मनुष्य पनके योग्य नहीं होता वे पशुके समान परस्पर व्यवहार करने लगते हैं, अंतमें

(३) उन दोनों आपसमें झगडने-

वाली जातियोंपर तीसरी जाती हुकुमत करने लगती है—

(४)इसका परिणाम दोनों जातियों की पूर्ण परतंत्रतामें होता है और इस कारण उक्त दोनों जातियां प्रतिदिन अधि काधिक हीन अवस्थामें पहुंच हैं।

उपदेश ।

इस कारण जैसा भाइयोंको आपसमें झगडा करना उचित नहीं है, इसी प्रकार एक राष्ट्रके निवासी दो जातियोंको भी आपसमें झगडा करना उचित नहीं है। आजकलके भारतवर्षीयों को भी इस कथासे बहुत ही बोध मिल सकता है। इस देशमें अनेक जातियां और अनेक धर्म पंथ विद्यमान है। सबको उचित है कि, वे आपसमें एकता से रहें और मिल जुलकर आनंदके साथ अपनी राष्ट्रीय उन्नति सिद्ध करें। परंतु दुःखके साथ देखना पडता है कि, वे आपस में एकता करने की अपेक्षा आपसमें झगडा करना ही अच्छा समझते हैं! आपसके झगडे से अपनी हानि हो रही है, इस प्रत्यक्ष बातको भी वे देखते नहीं। यदि ये लोग अपनी अवस्था को देखेंगे, और एकतासे रहनेमें अपना हित है यह समझेंगे तो कितना अच्छा होगा।

इस अवस्थामें पूर्वोक्त झगडालू तापसीयोंकी कथा अत्यंत बोध--प्रद है। परंतु इस कथा से जो बोध मिलता है, वह न लेते हुए यदि कोई कहे कि यह कथा इतिहासिक सत्य घटना नहीं है, इस लिये यह एक "गपोडा" है, तो उसको क्या कहना है। इस कथाके प्रसंगमें जो कहा है, कि (१) ये दो तपस्वी भाई आपसमें झगडते थे, (२) पैतृक धन के कारण उनमें झगडा था, (३) झगडा झगडनेके कारण मनपर बहुत बुरे संस्कार हुए और वे मरनेके पश्चात् हाथी और कछुआ बने और जिस बनमें वे थे वहां भी आपसमें झगडते ही रहे, (४) हाथी की ऊंचाई छः योजन और लंबाई बारह योजन थी, और कछुएकी उंचाई तीन योजन और गोलाई दस योजन थी, (५) इन दो झगडालु भाइयोंको तीसरे गरुडने पकड लिया और खा लिया।

यह कथा गपोडा भी हुआ, तथापि उपदेश प्राप्त होनेके लिये जो धर्मकी सचाई चाहिये, वह इसमें विद्यमान है। उस सचाईको न देखना और हाथी तथा कछुएकी लंबाई चौडाईकी सत्यताके ऊपर वादानुवाद करना, यह एक ही बात का निदर्शक है और वह यह है, कि जिस काव्य की दृष्टिसे यह कथा या यह ग्रंथ रचा गया था, उस काव्यकी दृष्टिसे इसको वह लोग देखते नहीं हैं। यदि देखें तो इस प्रकारकी शंकाएं उठही नहीं सकती।

मानलीजिये कि जो लंबाई चौडाई उक्त प्राणियोंकी इस समय होती है

उतनी ही लिखी होती, तो उक्त कथासे कौनसा बोध अधिक मिलता ?

चरित्रोंकी सचाईके विषयमें कितने विभिन्न पहलु होते हैं,यह विचारी पाठक जानते ही हैं । श्री० स्वामी दयानंद सरस्वती जी को प्रत्यक्ष देखनेवाले भी इस समय विद्यमान हैं । परंतु उनके जन्मस्थानके विषय में कितना विवाद हुआ था, यह प्रसिद्ध ही है । महात्मा लोकमान्य तिलक की जीवनी उनके साथ २६ वर्ष रहे हुए सुयोग्य विद्वानने लिखी, परंतु उसमें लिखे विधानोंकी सचाईके विषयमें महाराष्ट्रके वृत्तपत्रोंमें कितना वाग्युद्ध चला है । इसी प्रकार प्रतापी वीर शिवाजी महाराजके जीवन चरित्र जो छपेथे और जो इस समय तैयार हो रहे हैं, उनमें इतना ही अंतर है कि जितना जमीन और असमानमें है । इन बातोंको देखनेसे पता लग सकता है कि आजकल के इतिहासोंमें भी इतिहासिक सत्य कितना है । जिसका जो भक्त होता है, वह अपनी विभूतिका चरित्र अधिक गुणसंपन्न करनेकी चेष्टा करता है,सचाई की पर्वाह न करता हुआ वह अपने आदर्श पुरुष के दुर्गुणोंको भी सद्गुणोंका रंग चढानेका यत्न करता है, तथा जिसके विषयमें अंतःकरणमें आदर नहीं उसके गुणोंको भी दुर्गुणोंकी शकल में परिवर्तित किया जाता है । यह बात आजकल भी हो रही है, जो इस बातका अनुभव करेंगे उन को इतिहासिक सत्यताके विषयमें झगडा करनेका विशेष प्रयोजन नहीं रहेगा ।

परंतु जो ग्रंथ "काव्य" लिखनेके उद्देश्य से ही लिखा गया हो, उसमें दस योजन विस्तीर्ण हाथी और आठ योजन विस्तीर्ण कछुआ लिखा किंवा न्यूनाधिक प्रमाणमें लिखा, तो यह वर्णन कोई महत्त्व नहीं रखता; क्यों कि इस कविकल्पित कथामें मुख्य वक्तव्य भिन्न ही होता है । इस कथाका तात्पर्य जो "भाईयों की एकता" है वह ऊपर बतायाही है । वही देखना चाहिये, न की कथाके छिलके के विषयपर व्यर्थ वादानुवाद करना योग्य है ।

सगेभाई भी आपसके झगडेके कारण कैसे पशु बनते हैं, यह प्रायः हरएक पाठकने देखाही होगा । तथा आपसके झगडेसे दोनोंका नाश कैसा होता है, यह भी पाठकोंके अनुभव की ही बात है । इस सचाईको स्वयं देखना और उस को अपने वैयक्तिक, घरेलू, और राजकीय सामाजिक तथा धार्मिक आचारमें ढाल देना पाठकोंको उचित है । अस्तु! पूर्वोक्त कथामें "एकताका पाठ" मिलता है, यह बात सत्य है; इसी विषयमें महाभारतका उपदेश भी थोडासा यहां देखिये—

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं ।
न वै सुखं प्राप्नुवंतीह भिन्नाः॥
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवंति ।

न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥

म. भा. उद्योग. ३६।५८

" भिन्न अर्थात् जिनमें आपसमें फूट है, वे लोग न धर्माचरण कर सकते हैं, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न गौरव कमा सकते हैं और न शांति भोग सकते हैं ।"

अर्थात् जिनमें आपसके झगडे हैं, उनको धर्म, सुख, गौरव तथा शांति इनमेसे कुछभी प्राप्त नहीं होता । परंतु आपसमें झगडा बढाने वालों में अधर्म, दुःख, लघुता और अशांति रहती है । इस लिये जहांतक हो, वहांतक प्रयत्न करके आपसमें फूट रखना नहीं चाहिये । तथा और देखिये—

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तम् ।
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ॥
भिन्नानां वै मनुजेंद्र परायणम् । न विद्यते किंचिदन्यद्भिनाशात् ॥

म. भा. उद्योग. ३६।५७

"जो आपसमें झगडा करते हैं, उनको हितकर उपदेश भी पसंद नहीं होता उनका योगक्षेम ठीक नहीं चलता, तात्पर्य यह है कि, जो मनुष्य आपसमें झगडते हैं, उनका निःसंदेह नाश हो जाता है ।"

अर्थात् जिनमें आपसकी फूट है, उस जाति की कदापि उन्नति नहीं हो सकती इस लिये उन्नति चाहनेवाली जातिको उचित है कि, वे आपसमें झगडा न रखें और आपसमें एकताका बल जितना बढ सकता है, बढा दें । इसका एक उदाहरण भी महाभारतमें दिया है—

धूमायंते व्यपेतानि ज्वलंति सहितानि च ॥ धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥

म.भा.उद्योग. ३६।६०

"हे धृतराष्ट्र राजा! जिस प्रकार चूल्हेमें लकडियां इकट्ठीं जुडी रहनेसे जलतीं हैं परंतु अलग अलग रखनेसे धूवां उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार ज्ञातियों की अवस्था है।"

इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार लकडिआं इकट्ठीं रखनेसे जलकर प्रकाशमय होती हैं और अलग अलग रखनेसे धूवां उत्पन्न करती हैं, ठीक उस प्रकार जातियोंमें एकता होनेसे उस जातिका तेज फैलता है और आपसमें फूट और विविध झगडे होनेसे उस जातीका तेज नष्ट होता है । यह जातिकी उन्नति और अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको अवश्यमेव ध्यानमें रखना चाहिये ।

महाभारत " जातीय एकता का पाठ " इस ढंगसे दे रहा है । और भी देखिये—

सुंद और उपसुंदकी कथा ।

आर्य लोगोंका विद्या अभ्यासका

क्रम देखनेसे पता लगता है कि, वे जिस प्रकार आर्य वीरोंका इतिहास पढते थे, उसी प्रकार असुर और राक्षसों का तथा अन्यान्य जातियोंका भी इतिहास वे जानते थे। महाभारतमें भी राक्षसों की कथाएं इसी लिये दीं हैं, इसमें हेतु यह है कि, आर्य लोक "कूप मण्डूक" के समान न रहें, परंतु अन्यान्य जातियों की क्रियाएं देखकर उस सब इतिहाससे जो उत्तम उपदेश लेना है, वह लेकर उसका उपयोग अपनी उन्नति में करें। "एकताके पाठ" में जिस प्रकार पूर्वोक्त झगडालू तपस्वियों की कथा देखने योग्य है, उसी प्रकार सुंद और उपसुंदकी कथा भी देखने योग्य है। यह कथा इस प्रकार है—

सुंद और उपसुंद।

महा असुर हिरण्यकशिपुके वंशमें निकुंभ नामक असुर का जन्म हुआ। उसके पुत्र सुंद और उपसुंद थे। उनका जीवन क्रम देखिये कैसा था—

> सुंदोपसुंदौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ॥ ३ ॥तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसंमतौ। निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४ ॥विनाऽन्योन्यं न भुंजाते विनाऽन्योन्यं न जग्मतुः। अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥ एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकं यथाकृतौ। तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥६॥ त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ॥
>
> म. भा. आदि. २११

"उन दो दैत्यपुत्रोंमें एक का नाम सुंद और दूसरे का नाम उपसुन्द था। वे दोनों सदा एकही विषयमें संमत, एकही विषयमें दत्तचित्त, और एकही कार्यके करनेवाले होके समान सुख दुःख समझ कर अपना समय व्यतीत करते थे। दोनो एक दूसरेको प्यारी बोली बोलते थे। और एक दूसरेका प्रियकार्य करते थे। एक भाईके विना दूसरा भाई भोजन वा गमन नहीं करता था। उन दो भाईयोंके स्वभाव और व्यवहारमें भेद न रहने के हेतु जान पडता था, कि मानो, एक मनुष्य दो भागों में बट गया है!! हर काममें एक बुद्धि रखनेवाले वे दो बडे वीर्यवंत भाई क्रमसे बढ गये। वे तीनों लोक जीतना निश्चय कर उस कार्यको करने लगे।."

इस प्रकार वे बढ गये। उनके बढने का हेतु "आपसकी एकता" ही है। देखिये उनकी एकताका स्वरूप—

एकताके सात नियम।

(१) एकही विषयमें सहमत होना।
(२) एक ही विषयमें दत्तचित्त होना।
(३) एकही कार्य एकविचारसे और

अपने पूरे प्रयत्नसे करना।

(४) सुखदुःखमें समान हिस्सेदार होना।

(५) परस्पर मीठे शब्दों से संभाषण करना।

(६) परस्परका प्रिय करनेका यत्न करना।

(७) स्वभाव और व्यवहार परस्पर अनुकूल रखना।

ये सात बातें उक्त श्लोकोंमें कहीं हैं। इनसे परस्पर मित्रता बढती है। भाई भाईमें, मित्र मित्रमें, दो जातियोंमें तथा दो राष्ट्रोंमें यदि मित्रता होगी, तो इन सात नियमोंके अनुकूल रहनेसे ही होगी, अन्यथा संभव नहीं है। आजकल आपस में झगडा करने वाले हिन्दु और मुसलमान ये राष्ट्रभाई इन सात नियमों को स्मरण रखें और इनको अपनानेका यत्न करें। इन नियमोंके पालन होनेसे ही इन दो जातियों में एकता हो सकती है। उक्त सात नियमोंके बिलकुल विरोधी व्यवहार जबतक होता रहेगा तबतक एकता कैसी उत्पन्न होगी और स्थिर भी किस ढंगसे होगी?

पूर्वोक्त दोनों भाई सुंद और उपसुंद आपस की एकताके कारण वीर्यवान और बलवान बनकर त्रैलोक्यका विजय करने लगे। ऐक्य के बलके कारण उनका सर्वत्र विजय होता गया और उनके उग्र वीर्यके कारण उनको डर दिखानेवाला कोई नहीं रहा। देखिये—

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित्स्थावरजंगमम्। सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेऽन्योऽन्यं पितामह॥

म. भा० आदि, २११।२५

"हम दोनोंको एक दूसरेके विना इस त्रिलोक भरमें स्थावर जंगम आदि किसीसे मृत्यु का भय न रहे!"

यही अवस्था आपसकी एकता के कारण उनको प्राप्त हो गई और उनका दिग्विजय सर्वत्र होगया। देखिये—

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा। निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः।

म. भा. आदि० २१२।२७

"वे इस प्रकार कुटिल और क्रूर कार्यसे सब दिशाओंमें विजय प्राप्त कर अंत में शत्रुवर्जित हो कर कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे।"

यह जो दिग्विजय सुंद और उपसुंद को प्राप्त हुआ इसका मूल कारण उनकी आपसकी एकता ही है। आर्य देश, गंधर्व देश, और देवलोक आदि सब राष्ट्रोंको उन दोनों भाइयोंने परास्त किया था और संपूर्ण त्रिलोकीमें अपना साम्राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार दिग्विजय करनेवाले दो भाइयोंमें आपसका झगडा खडा करनेके लिये तिलोत्तमा नामक एक अप्सरा देवोंकी ओर से

भेजी गई, जि का सुंदर स्वरूप देख कर वे दोनों सुंद और उपसुंद काम-मोहित होकर, उस स्त्रीके कारण आपस में लडने लगे और जब उनमें आपसका झगडा हुआ, तब उनका पूर्ण नाश होगया, देखिये–

> उभौ च कामसंमत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥२२॥ दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुंदो जग्राह पाणिना। उपसुंदोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥ वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च। धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥ सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ। मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥ एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ। तिलोत्तमार्थे संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥२६॥
>
> म० भा० आदि. २१४

"वे दोनों कामवश होकर के उस नारी के पास गये और दोनों ने उसपर मन चलाया। सुंदने अपने हाथसे उस सुंदरीका दहिना हाथ थाम लिया, और उपसुंदने उसका बायां हाथ पकडा। वे वर पाने से गर्वित अपने भुजवीर्य के गर्वसे घमंडयुक्त, औः धन रत्नों के अहंकार से उन्मत्त थे ही; फिर तिसपर दोनों मद्य और काम के नशे से बावलों के समान बने थे। सो एक दूसरे की ओर भौंह चढायके झगडने लगे। तात्पर्य सुंद और उपसुंद दोनों भाई मित्र भावयुक्त और हर बातमें सहमत होनेपर भी तिलोत्तमा के लिये क्रोधित होकर आपसमें झगडा करने से पूर्णतासे नष्ट होगये।"

इस रीतिसे एकताके कारण बल बढता है और आपसकी फूटके कारण बल घटता है।

यह कथा पांडवोंको भगवान् नारद मुनिने कही थी और उनको आपसमें न झगडनेका पाठ दिया था। देखिये ऋषि मुनि भी राक्षसोंका इतिहास पढते थे तथा उससे लेने योग्य बोध लेते थे और उसका उपदेश अपने आर्य वीरों को करते थे! अन्य देशोंके और अन्य जातियोंके इतिहास पढनेका तथा शत्रुसे भी विद्याग्रहण करनेका महत्त्व कितना है, यह यहां पाठक देख सकते हैं।

यहां विशेष देखने योग्य बात यह है कि, सुंद और उपसुंद नामक राक्षसों की कथा "आपसकी एकता का प्रतिपादन" करनेके लिये दी है और महाभारत की कथा कौरव पांडवोंकी "आपस की फूट" का वर्णन करनेके लिये बतायी है। एकताके बल के कारण राक्षसोंका बल कैसा बढगया था और आपस की फूटके कारण आर्य जाती का

कैसा नाश हुआ, यह उक्त कथाओंमें अर्थात् उक्त तपस्वियोंकी कथामें तथा कौरव पांडवों की कथामें देखिये यदि कौरव पांडव एक मतसे राज्य करते, तो त्रिलोकीको जीत लेते; परंतु आपसकी फूटके कारण आर्यजातीकाही कैसा नाश हुआ, यह बात यहां विशेष विचारसे पाठक देख सकते हैं। इसीविषयमें एक उत्तम उदाहरण मार्कण्डेय पुराणमें आगया है वहभी सारांशसे यहां देखना उचित है—

महिषासुर।

देवासुरमभूद्युद्धं पूर्णमब्दशतं पुरा। महिषेऽसुराणामधिपे देवानां च पुरंदरे॥ १॥
तत्रासुरैर्महावीर्यैर्देवसैन्यं पराजितम्। जित्वा च सकलान्देवानिन्द्रोऽभून्महिषासुरः॥ २॥ मार्कण्डेयपुराण अ. ८२

"पूर्वकालमें देवों और असुरोंका युद्ध पूर्ण सौ वर्षोंतक हुआ उसमें देवोंका सेनापति इन्द्र था और राक्षसोंका महिषासुर था। युद्ध के अंतमें देवोंका पूर्ण पराभव हो गया और महिषासुर देवोंके राष्ट्रका सम्राट् बनगया"।

अपना पराजय होनेके पश्चात् देव भाग गये और श्रीशंकर और श्रीविष्णु के पास गये। देवोंने अपने पूर्ण पराजय का वृत्तांत भगवान विष्णुसे कहा और अपनी शोचनीय अवस्था का वर्णन उन के सन्मुख किया। उस समय भगवान शंकर और विष्णु के अन्दरसे एक विलक्षण तेज बाहर निकल आया। उस दिव्य तेजमें संपूर्ण देवोंने अपने अपने तेजोंका अंश मिला दिया। देखिये इसका वर्णन—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्। एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
मार्कण्डेय पुराण अ. ८२।१२

"सब देवोंके शरीरोंसे निकले हुए तेजों का मिल कर एक स्त्रीरूपी अत्यंत तेजस्वी शरीर हुआ। जिसके तेज से त्रैलोक्य व्याप्त हुआ।"

इस तेजोमय स्त्री देवीने असुरोंका पराभव करके फिर देवोंका साम्राज्य शुरू किया।

अर्थात् आपसकी फूट के कारण देवोंका पराभव हुआ और जब देवोंने अपने तेज और वीर्यका एक संघ बना दिया, तब उनके सामने राक्षस पराभूत होगये। पूर्वोक्त वर्णन में हरएक देवने अपना तेजस्वी अंश भेजा, संपूर्ण देवोंके तेजोंका एक महान "संघ" बना और उस संघने राक्षसोंका पूर्ण पराभव किया। इस वर्णन का अलंकार हटाया जाय तो कथाका मूल स्वरूप स्पष्ट विदित होता है।

जिस समय देवोंके अंदर आपसमें एकता नहीं थी, हरएक देव अथवा हरएक देवोंका गण किंवा देवोंकी जाति, अपनी अपनी घमंडमें रहकर अलगही रहती थी, उस समय राक्षसोंके सामने

देव ठहरही नहीं सकेथे। परंतु जिस समय देवोंको आपस की फूटका पता लगा और अपना संघ बननेके विना अपना जीनाभी अशक्य है, यह बात देवोंके ध्यानमें आगई, तब उन्होंने अपना एक बडा अभेद्य संघ बना दिया, सब देवोंने अपनी अपनी शक्ती पूर्णतासे लगादी और देवराष्ट्र को जीवित रखनेके लिये हरएक देवने अपनी पूर्ण पराकाष्ठा की। इससे देवोंमें-अर्थात् तिब्बत (त्रिविष्टप्) के वासिंदोंमें बडी विलक्षण संघशक्ति बनी, उनका बल बढ गया और इसकारण वे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सके और अपने नष्ट हुए साम्राज्य को पुनः प्राप्त कर सके। तात्पर्य यह है कि, जबतक आपसमें फूट रहेगी तब तक न तो कौटुंबिक सुख मिलेगा, और ना ही राष्ट्रीय उन्नति प्राप्त होगी।

देवासुरोंके शताब्दी युद्ध (Hundred Year's war)के वर्णन से हमें यही उपदेश मिलता है। इतना बोध लेकर निम्नमंत्र देखिये—

> संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋ.१०।१९१।२

"हे सज्जनो ! तुम (संगच्छध्वं) आपसमें एकता करो, (संवदध्वं)आपसमें उत्तम भाषण करो, और अपने मनोंको सुसंस्कार संपन्न करो, तथा जिस प्रकार प्राचीन ज्ञानी अपने भाग्य की उपासना करते थे उसी प्रकार तुम भी किया करो"

तथा—

> समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
>
> ऋ. १०।१९१।४

"हे लोगो। तुम्हारा संकल्प, तुम्हारा हृदयका भाव,तुम्हारा मन अर्थात् तुम्हारा सब व्यवहार समान अर्थात् सबके साथ यथायोग्य हो, जिससे तुम एकतासे रह सकोगे।"

यह वेदका उपदेश पूर्वोक्त एकताका ही पाठ दे रहा है और इसी का पाठकों के मनपर पूर्ण रूपसे प्रतिबिंबित करनेके लिये पूर्वोक्त इतिहासिक कथाएं, तथा काव्यमय इतिहासिक वर्णन हैं। इस दृष्टिसे उक्त कथाएं पढीं और समझीं जाय, तो कथाओंका स्वारस्य समझमें आजायगा। और महाभारत के काव्यमयइतिहास का महत्त्व ध्यानमें आवेगा।

इस लेखमें (१) तपस्वी दो भाईयों की कथा, (२) सुंद और उपसुंदकी कथा, (३) महिषासुरका आख्यान, इनका वर्णन संक्षेपसे दर्शाया है, और (४) महाभारतकी कथा सबको विदित ही है। इन चार कथाओंकी विशेषता यह है, देखिये—

(१) तपस्वी भाइयोंकी कथा—
दो तपस्वी आर्य भाइयोंका आपस में झगडा हुआ और दोनोंको तीसरेने आकर भक्षण किया।

(२) पांडवकौरवोंकी कथा—
दो भाई-कौरव पांडवों का आपसमें झगडा होगया और आर्य जातीके प्रमुख वीरोंका संहार होकर आर्य जातीका बडा नाश हुआ।

(३) सुंद और उपसुंद की कथा—
दो राक्षस भाई आपसमें पूर्ण एकतासे रहनेके कारण त्रैलोक्य में विजयी होगये। परंतु उनमें आपसका झगडा होने पर ही उनका नाश हुआ।

(४) महिषासुर की कथा—
देवोंके अंदर आपस में एकता नहीं थी, ऐसे समयमें महिषासुर नामक असुर देशीय राजा ने देवराज्य पर हमला करके देवोंका पराभव किया। पश्चात् देवोंने अपनी संघशक्ति बढाई और पुनः अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की।

ये चारों कथाएं अगर पाठक ध्यानसे पढेंगे तो उनके ध्यानमें उसी समय आजायगा कि (१) आर्य तपस्वीयों में झगडा, (२) आर्य राजाओंमें आपसकी फूट,

(३) देवोंमें संघशक्तिका अभाव, इत्यादि बातें उक्त कथाओंमें वर्णन की हैं।

साथ साथ (१)असुरों और राक्षसों में अपूर्व संघशक्तिका होना,(२)बल और वीर्य में उनका अधिक होना,(३)प्रायः प्रारंभमें असुरोंका विजय होना, इत्यादि वर्णन है।

इससे यह अनुमान करना अनुचित होगा कि, उस समयके सभी आर्य निकम्मे थे और सब असुर साधु थे। परंतु इस वर्णन का उद्देश्य और ही है। जो महान कवि अपनी जातिके उद्धार के लिये महाकाव्य निर्माण करता है, वह विशेष हेतुसे कथाओं, आख्यानों और उपाख्यानों का संग्रह करता है। अपनी जाति की उन्नति किस ढंगसे होगी अपनी जातिमें कौनसे दोष हैं, अपने शत्रुओंमें कौनसे गुण हैं, इसका विचार वह कवि करता है, और अपना काव्य लिखता है। महामना व्यास भगवान असाधारण कवि और अलौकिक बुद्धिमत्ता तथा विलक्षण विद्वत्ता से युक्त थे। इसी कारण उन्होंने अपने अपूर्व काव्य में—अर्थात् इस महाभारत में विलक्षण चातुर्यसे कथाओंका सिलसिला रखा है। पाठक यदि महाभारत पढते पढते सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करेंगे, तो उनको इस काव्यके स्वारस्य का पता उसी समय लग जायगा।

उन्नतिका सीधा मार्ग।

शत्रुजाति की अपेक्षा अधिक गुणोंसे युक्त होनेसे ही उन्नति हो सकती है। शत्रुके अंदर जिन विशेष गुणोंके कारण बल बढा होता है, उन गुणोंको अपने अंदर प्राप्त करना चाहिये, और बढाना चाहिये। तथा अपने अंदर जिन दुर्गुणों के कारण बलकी क्षीणता होनेकी संभावना है, उनको दूर करना अत्यंत आवश्यक है। अपने अंदर से दुर्गुणोंको दूर भगाना और अपने में सद्गुणोंकी अधिकता स्थिर करनेसे ही उन्नति हो सकती है।

इस लिये महाकवी शत्रुके गुणोंका वर्णन अधिक स्पष्ट रूपसे करते हैं, ताकि उन गुणोंका प्रतिबिंब अपनी जातिके लोगोंके अंतःकरणों पर स्पष्ट रीतिसे पडे और उन शुभ गुणोंका ग्रहण अपनी जाति करे और उन्नति प्राप्त करे, साथ साथ वे अपनी जातिके दुर्गुणोंका वर्णन भी थोडा बढा कर करते हैं, जिससे अपनी जातिके दुर्गुणोंका पता स्वजातियोंको लगे और वे उन दुर्गुणोंको दूर फेंककर निर्दोष बनकर अपनी उन्नति करें।

शत्रुके गुण देखना, उनको अपनाना, और बढाना, तथा साथ साथ अपने दोष दूर करके अपनी उन्नति करनी यही उन्नति का सीधा मार्ग है। इस दृष्टिसे पूर्वोक्त चारों कथाओंमें आर्यजातीके दोष और शत्रुभूत असुर जातिके गुण वर्णन किये गये हैं। और इस वर्णनमें इसलिये थोडी अत्युक्ति की है कि वक्तव्य बात पाठकों के मन में स्थिर हो जाय।

आर्य जातीके वीर पुरुषोंमें धैर्य वीर्य शौर्य आदि प्रशंसनीय गुणोंका वर्णन महाभारतमें सर्वत्र है हि। यदि यह वर्णन न होता और केवल स्वजातीके दोषों से ही यह ग्रंथ लिखा होता तो इसके पढनेसे पाठकोंका उत्साह नष्ट हो जाता। परंतु महाभारत पढने से उत्साह बढ जाता है। इसका कारण यह है कि, स्वजातीके दुर्गुण अत्युक्तिके साथ वर्णन करते हुए भी उनको गौण स्थान दिया है और स्वजातिके महत्वके गुणोंका वर्णन प्रधान स्थानमें किया गया है। इस लिये इस महाभारत के पाठ का परिणाम पाठकोंके मन पर बडा ही उच्च और उदात्त होता है। अस्तु।

महाभारत ग्रंथ "एकता का पाठ" सिखाता है। इस पाठका ढंग इस लेखमें बताया है, पाठक अब अन्यान्य कथाओंका विचार करके अधिक बोध प्राप्त करें।
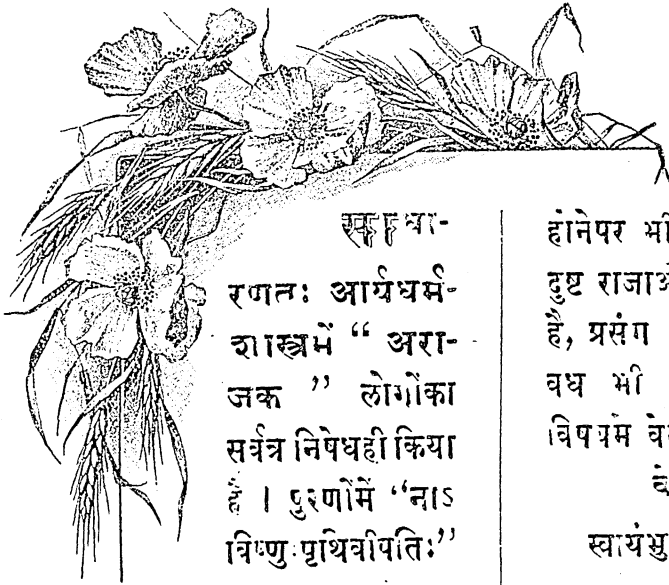
सर्वसाधारणतः आर्यधर्मशास्त्रमें "अराजक" लोगोंका सर्वत्र निषेधही किया है। पुराणोंमें "नाऽविष्णुः पृथिवीपतिः" अर्थात् "विष्णुका अंश न होनेसे सम्राट् पद नहीं प्राप्त होता" ऐसा कह कर राजाकी शक्तीका अत्यधिक गौरव दर्शाया है। यद्यपि यह गौरव पुराणोंमें सर्वत्र है, तथापि "राजाकी शक्ति अनियंत्रित" है ऐसा किसीभी ग्रंथमें लिखा नहीं है। वेदमें भी—

राजा राष्ट्राणां पेशः।

ऋग्वेद ७।३४।११

"राष्ट्रका रूप अर्थात् राज्यकी सुंदरता राजा है।" इस मंत्रमें राजाको राष्ट्रका भूषण कहा है। इतना वर्णन होनेपर भी पुराणोंमें और इतिहासोंमें दुष्ट राजाओंका सर्वत्र निषेध ही किया है, प्रसंग विशेष में दुष्ट राजाओंका वध भी ऋषियोंने किया है। इस विषयमें वेन राजाका दृष्टांत सुप्रसिद्ध है

वेन राजाका वध।

स्वायंभु मनुके वंशमें अंग नामक एक राजा था। इसका पुत्र वेन राजा अपने पिता के पश्चात् राज्यपर आगया। यह वेन राजा धर्म नियमानुसार राज्य चलाता नहीं था, इस लिये ऋषियोंने मिलकर दर्भास्त्रसे उनका वध किया। और उसके ज्येष्ठ पुत्रको नालायक होने के कारण शहरबदर करके, द्वितीय पुत्र पृथुको राजगद्दीपर बिठलाया। यह कथा विस्तार से महाभारत, हरिवंश, विष्णु-पुराण पद्मपुराण आदिमें है।

इससे यह सिद्ध होता है कि ऋषिमुनि सम्राट्का अत्यंत गौरव करते तो थे,

परंतु उसके नालायक होनेपर उसका वध भी करते थे और जो राजगद्दीके योग्य होगा, उसीको राज्य शासनमें नियुक्त करते थे। इसी नियमानुसार वेन के नालायक ज्येष्ठ पुत्रको राजगद्दी नहीं दी गई और द्वितीय पुत्रको दीगई। यह बात नालायक राजा के विषयमें होगई।

नालायक राजाको इस प्रकार दंड करने में किसी भी सज्जन का मतभेद नहीं हो सकता। क्यों कि कोईभी राजा क्यों न हो, वह विशेष कार्य करने के लिये ही राजगद्दीपर रखा जाता है। इस लिये जबतक वह उस कार्य को करेगा, तब-तक ही वह राज्य पर रहेगा। जिस समयसे वह अपना कर्तव्य करना छोड देगा उस समयसे राजगद्दीपर रहनेका उसको अधिकार ही नहीं रहेगा इसी हेतुसे वेदमें राज्यारोहण समारंभ के प्रसंग के मंत्रोंमें कहा है कि —

त्वां विशो वृणतां राज्याय
त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥

अथर्व ३।४।२

"हे राजन्! राज्यके लिये (विशः) प्रजाएं (त्वां वृणतां) तुझकोही स्वीकार करें। पंचदिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजाएं भी तेरा स्वीकार करें। उन प्रजाओंकी अनुमतिसे तू राज्यपर चढ और (उग्रः) शूर बनकर सब प्रजाओंको (वसूनि विभज) धनका योग्य विभाग दो।" तथा—

ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥

अथर्व ६।८८।३

"हे राजन्। तेरी स्थिरता के लिये (इह) इस राष्ट्रमें (समितिः) राष्ट्रकी सभा तेरी सहायक हो।"

यह उपदेश स्पष्ट बता रहा है कि, वैदिक धर्मके अनुसार जनताके मतानुकूल चलने तक ही राजाके आधीन राजगद्दी रह सकती है। जिस समयसे वह प्रजाके मतानुसार नहीं चलेगा, उस समयसे वह राज्यसे भी भ्रष्ट हो सकता है। कई आर्य राजाओंका इस प्रकार प्रजा विरोधके कारण नाश हुआ था। और वह उनका नाश पूर्णरूपसे धर्मानुकूल ही हुआ था।

परंतु इन ऋषिमुनियोंको जिन्होंने कि वेनराजाका वध किया था उनको किसी भी इतिहास लेखक ने "अराजक" नहीं कहा। आजकल युरोपमें पाशवी सभ्यताके बढ जानेके कारण अराजकता का पंथ वहां शुरू हुआ है। उस प्रकार के मतका अंशभी पूर्वोक्त ऋषि मुनियोंके मनमें नहीं था। तथापि युरोपके समानही अराजकोंका षड्यंत्र महाभारतमें दिखाई देता है। इस का इस लेखमें विशेष विचार करना है। देखिये—

अराजकोंका षड्यंत्र।

भारत वर्षमें "सर्प" नामकी एक

मानव जाती थी यह बात प्रसिद्ध है। सर्पस्त्रियां आर्योंके घरमें व्याही जाती थीं, इस प्रकारके विवाह महाभारतमें कई हैं। दिग्विजयी आर्य जातीने सर्प जाति का पराभव किया था और सर्पजाती प्रायः परतंत्र और सर्वत्र अधिकार हीन सी बनगयी थी। महाभारतके पूर्वकालकी यह इतिहासिक घटना महाभारत काव्यमें स्पष्टतासे दिखाई देती है।

सर्पजाती की स्त्रियोंका विवाह आर्य पुरुषोंसे होता था, परंतु आर्य स्त्रियोंका विवाह सर्प जातीके पुरुषसे होता नहीं था। इससे भी सिद्ध होता है कि, सर्प जाती की राजकीय अवस्था अत्यंत निकृष्ट होगई थी, इसी लिये सर्प स्त्रियोंको आर्य पुरुषोंसे शरीरसंबंध होनेमें लाभ प्रतीत होता था, वैसा लाभ आर्य जातिकी स्त्रियोंको सर्प जातीके पुरुषोंके साथ विवाह संबंध होनेसे नहीं प्रतीत होता था।

✓ पराजित और परतंत्र जातीकी अधोगति की यही सीमा है कि, जिस समय उस परतंत्र जातीकी स्त्रियां अपनी जातीकी परतंत्रता करनेवाली और अपनेपर हुकुमत करनेवाली दिग्विजयी जातिके पुरुषों से शरीर संबंध करने में अपना हित मानने लग जांय। जब यह अवस्था हो जाय तत्पश्चात् उस पराधीन जातीके अभ्युदयकी कोई आशा नहीं समझनी चाहिये. क्योंकि स्त्रियोंके अंदरका स्वाभिमान नष्ट हुआ और जातीयताकी कल्पना माताओंके शुद्ध अंतःकरणोंसे भी हट गयी, तो संतान भी वैसेही स्वाभिमान शून्यही उत्पन्न होंगे, इसमें संदेह ही क्या हो सकता है! इसी कारण सर्प जातीकी जो अधोगति पांडवोंके दिग्विजय के सबब होगई, उस पराधीनतासे फिर सर्पजातीकी उन्नति इस समयतक नहीं हुई। पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये कि, सर्पजातीकी दास्यवृत्तिकी यह अंतिम सीमा हो चुकी थी।

प्रायः अराजक "दबी हुई जाती" में ही उत्पन्न होते हैं। जब न्याय्य और धर्म्य मार्गोंसे अपनी उन्नति होनेके सब मार्ग बंद हो जाते हैं, विजयी लोग दबी हुई जातीको सब प्रकारकी उन्नति के मार्गपर चलनेमें चारों ओर से रोक लेते हैं, तब नवयुवकों के अंदर " अराजकता के विचार " उत्पन्न होते हैं और वे नवयुवक विजयी जातीके प्रमुख वीरों और राजाओंका घातपात जिसकिसी मार्ग से बन करनेको उत्सुक हो जाते हैं। यही बात सर्प जातीके अराजक नवयुवकों ने की और इन्होंने आर्य सम्राट् राजाधिराज परीक्षित महाराजका वध राजगृहमें ही किया!!!

सम्राट् परीक्षित का वध।

सर्पजातीके नवयुवक राजा परीक्षित के दरबार में संन्यासियोंके वेषसे आगये। क्योंकि तापसी संन्यासी और साधुओं-

को आर्य राजाओंके भुवनों में कभी भी प्रतिबंध नहीं था। देखिये इसका वर्णन–

जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥ अथ शुश्राव गच्छन्स तक्षको जगतीपतिम् । मंत्रैर्गदै-र्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ॥२२॥ स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः। मया वंचयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति ॥ २३ ॥ ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत्स भुजंगमान्। फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ॥२४॥

तक्षक उवाच।

गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया। फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम्॥२५॥ ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजंगमाः । उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ॥ २६॥ तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान्। कृत्वा तेषां च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ॥ २७ ॥

म. भा० आदि० ४३

" तक्षकसर्प हस्तिनापुर को पधारा उन्होंने मार्ग में सुना कि राजा बडे यत्न-से सुरक्षित रहे हैं। तब सोचने लगा कि, कपटसे राजाको ठगना पडेगा। अनंतर तक्षक सर्पने अपने साथी सर्पोंको तपस्वी का रूप धारण कर तथा फल, दर्भ और उदक लेकर राजाके पास जानेको कहा। और साथ ही सावधानी की सूचना भी दी कि तुम हडबडी न दिखा कर किसी काम के बहानेसे राजाके पास जाकर उनको फल फूल और जल देना। सर्पोंने तक्षक सर्प की आज्ञानुसार कार्य किया और राजाको फलफूल और जल दिया। वीर्यशाली राजा परीक्षित् ने वह सब लेलिये और उनका कार्य पूर्ण कर चले जानेकी आज्ञा दी। "

इन श्लोकोंमें सर्प जातीके अराजकों के षड्यंत्र का ठीक ठीक पता लगता है। (१) सर्प जातीके कई नवयुवक आर्य संन्यासीके समान वेष धारण करते हैं, (२) राजाको भेट करने और आशीर्वाद देनेके मिषसे राजदर्बार में प्रवेश करते हैं, (३) राजदर्बार में इन कपटी साधुओं का प्रवेश होता है, (४) आर्य राजा उन तपस्वियोंके विषयमें किसी प्रकार संदेह नहीं करता !! परंतु उन साधुओं के बीच में ही एक मुख्य, "अराजक सर्प" था, अन्य कपटी अराजक साधु फल देकर चले जाने पर भी वह वहां ही रहा था और योग्य समय की प्रतीक्षा कर रहा था। इतनेमें सूर्यास्तका समय हुआ और प्रायः सायं संध्या की उपासना करनेके लिये राजदर्बार विसर्जन करने की गडबड हो रहीथी, ऐसे समय

में एकायक वह अराजक सर्प उठा और उसने सम्राट् परीक्षित का वध किया—

वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम्। अदशत्पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः॥ ७॥

म. भा. आदि- ४३

"अराजक सर्पने अपने शरीरसे महाराज परीक्षित को वेगसे घेर कर बडी गर्जना के साथ उसको काट लिया।"

अर्थात् यह वध किसी शस्त्रसे नहीं किया गया, परंतु सम्राट् को भूमिपर गिराकर उसका गला घूंट लिया। सर्प जातीके नवयुवकोंके मनमें आर्यराजाओंके विषय में इतना द्वेष था कि, वे आर्य राजाओंका गला घूट कर अथवा अपने मुखसे उनको काट कर उनकी जान लेने को प्रवृत्त होते थे!!! ऐसा क्यों हुआ, आर्य राजाओंने ऐसा कौनसा भयानक अत्याचार सर्पजातीपर किया था, इसका विचार करना चाहिये। यह देखनेके पूर्व एक दो बातें पहिले देखनी है, वे यह हैं—

राजाके मूर्ख मंत्री।

ते तथा मंत्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम्। विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः॥ १॥ तंतु नादं ततः श्रुत्वा मंत्रिणस्ते प्रदुद्रुवः।

म. भा. आदि- ४४

"मंत्रीगण राजा को उस प्रकार घिरे हुए देखकर अति दुःखी होकर और मुख को खेदयुक्त बनाकर रोने लगे। आगे उसकी गर्जना का शब्द सुनकर सब भागने लगे।"

देखिये! ये दर्बारके मंत्रीलोग हैं! राजाके शरीर पर शत्रुका आक्रमण हुआ है वह अराजक नवयुवक राजाका गला घूंट रहा है, यह देखते हुए ये मंत्री रोते और भागते है!!! कोई एकभी अपनी तलवार उस पर नहीं चलाता! क्या इससे अधिक मतिहीनता की सीमा हो सकती है? जहां ऐसे दुर्बल मंत्री होंगे, वहां सम्राट् जीवित रह ही नहीं सकता। और साम्राज्य भी वहां अधिक देर तक रह नहीं सकता। पांडवोंके पश्चात् दूसरे ही पुश्त में इतना अधःपात हुआ था, यह यहां विचारसे ध्यानमें लाना चाहिये।

उक्त प्रकार सर्प जातीके अराजक नवयुवकने राजाको अपने मुखसे काट कर मारा और वह भाग गया। और आर्य राजधानीमें वह पकडा भी नहीं गया, वह व्यवस्था हस्तिनापुर की थी!! ऐसी अंदाधुंदी यदि किसी राजधानीमें रही, तो उनका साम्राज्य कैसे बढ सकता है! जागरूकता से अपना बचाव करने की शक्ति तो कमसे कम चाहिये।

अराजक षड्‌यंत्र का पता।

अराजक सर्पोंके षड्‌यंत्र का पता राजाको सात दिन पहिले लगचुका था। और साम्राट् अपनी रक्षा भी कर रहा

था। इतनी रक्षाका प्रबंध होनेपर भी कपटी सर्प संन्यासी दर्बारमें प्रवेश करते हैं, राजाके पास पहुंचते हैं और उनमेंसे एक राजाके शरीर पर हमला करता है; और उसका वध करता है, यह बात विशेष लक्ष्यपूर्वक देखनी चाहिये, तो भारतीय सम्राटोंकी दक्षताहीनता का पता लग जायगा। यदि अपने वध के लिये कई लोग षड्-यंत्र रच रहे हैं, तो साधु हो, या संन्यासी हो, परीक्षा किये विना दर्बारमें प्रविष्ट होने देना यह दक्षताहीनताका ही द्योतक है।

अराजक सर्पोंके षड्यंत्रका पता ऋषि मुनियोंके नवयुवकों को भी था। क्यों कि एक ऋषिकुमार ने ही पहिले कह दिया था कि, "आजसे सातवे दिन एक सर्प आकर परीक्षित का वध करेगा" देखिये—

> तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः। सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति॥ द्विजानामवमंतारं कुरूणामयशस्करम्॥ १४॥
>
> म भा. आदि. ४१

"क्रोधित तक्षक सर्प उस पापी, द्विजोंके अपमान करनेवाले, कुरुकुलके कलंक रूपी राजाको सात रातोंके बीचमें यमके घर पहुंचायेगा।"

यह ऋषिकुमार का वाक्य अराजकों के षड्यंत्रकी बात स्पष्ट बता रहा है। नवयुवकों के अंदर कईयोंको इसका पता होगा ऐसा इससे स्पष्ट दिखाई देता है। सम्राट् के वधका समय भी करीब निश्चित साही होगया था। उक्त ऋषिकुमार के कथनमें सम्राट् परीक्षित के लिये "(१) पापी, (२) द्विजानां अवमंता, (३) कुरूणां अयशस्कर" ये तीन विशेषण हैं। इनमें भी कुछ भाव होगा ही। क्यों कि राजा परीक्षित् ने शमीक नामक एक शांत मौनव्रतधारी तपस्वीके गलेमें मृत सर्प लटका दिया था। कारण इतनाही था, की इसके प्रश्नका उत्तर उस तपस्वीने दिया नहीं! जो राजा अपने प्रश्नका उत्तर न देनेके कारण मौनव्रती तापसीका ऐसा अपमान कर सकता है। उसके विषयमें ब्राह्मण समाज में भी कितनासा आदर रह सकता है। इसी कारण उक्त ब्राह्मण कुमारने उक्त विशेषण परीक्षित् के लिये लगाये हैं। अर्थात् परीक्षित् के राज्यमें अराजक नवयुवकों का षड्यंत्र बढ गया था, और आर्य ब्राह्मण समाजमें भी उनका आदर थोडासा न्यून हुआ था। यद्यपि बडे श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग यह अपना अनादर व्यक्त नहीं करते थे, तथापि कुमार लोग उक्त प्रकार बोलनेमें संकोच नहीं करते थे। यह अवस्था उस समयकी थी।

जब ऋषिकुमार का कथन उसके पिता शमीक ऋपिको ज्ञात हुआ, तब उस तपस्वीको बडा दुःख हुआ और उसने

सम्राट् परीक्षित को अपनी रक्षा करनेकी सूचना दी। और इस सूचना के अनुसार ही सम्राट् अपनी रक्षा कर रहा था, परंतु मूर्ख मंत्रियों की दक्षताहीनताके कारण पूर्वोक्त प्रकार अराजक नवयुवक के द्वारा वह मारा गया। इस रीतिसे एक सर्प जातीके अराजक नवयुवक ने आर्य सम्राट् परीक्षित का वध किया।

इससे पूर्व भी एकवार प्रयत्न।

आर्य राजाका वध करनेका प्रयत्न सर्प जातीयोंने अनेकवार किया था, उसमें यह अंतिम प्रयत्न था। और इस अंतिम प्रयत्न के समय सर्प जातीके युवक की इच्छा पूर्ण होगई, इससे पूर्व जो जो प्रयत्न किये गये थे, उन सब में उनको सफलता नहीं हुई थी। इसका कारण इतनाही है कि, परीक्षित राजा स्वसंरक्षण के लिये समर्थ नहीं था, और इसके पूर्वजों में स्वसंरक्षण करते हुए अपना साम्राज्य बढाने की शक्ति विशेष थी। सर्प जातीके अराजकों का षड्यंत्र पहिले भी था, परंतु आर्योंकी वीरता विशेष रहने के कारण वे अराजक उनका कुछ भी बिगाड नहीं सकेथे, परंतु जिस समय आर्य राजाओं में वीरताकी न्यूनता और भोग भोगनेकी प्रधानता होगई, तब अराजकों की सफलता होने लगी। प्रायः अराजकों के शस्त्रोंका प्रयोग ऐसे ही दुर्बल राजाओं पर होता है। अब इसके पूर्वके षड्यंत्रक थोडासा वर्णन देखना चाहिये।

अर्जुन और कर्णका युद्ध होने के समय एक अराजक सर्प नवयुवक अर्जुन का वध करनेकी इच्छासे कर्णकी सहायता करनेके लिये कर्ण के पास पहुंचा था और विशेष प्रकार के बाण भी उन्होंने वीर कर्णको दे दिये थे। देखिये—

> ततस्तु पातालतले शयानो नागोऽश्वसेनः कृतवैरोऽर्जुनेन ॥ १२ ॥ अथोत्पपातोर्ध्वगतिर्जवेन संदृश्य कर्णार्जुनयोर्विमर्दम् ॥ १३ ॥ अयं हि कालोऽस्य दुरात्मनो वै पार्थस्य वैरप्रतियातनाय। संचिन्त्य तूर्णं प्रविवेश चैव कर्णस्य राजन् शररूपधारी ॥ १४ ॥
>
> म. भा. कर्ण. अ. ९०

"अर्जुनके साथ वैर करनेवाला पाताल देश निवासी सर्पजातीका एक अश्वसेन नामक मनुष्य, कर्ण और अर्जुन का युद्ध देख कर अतिवेगसे ऊपर आया अर्जुन का बदला लेने के लिये यही उत्तम समय है, ऐसा देखकर कर्णके बाणोंके संचयमें घुसा।"

इस वर्णन से स्पष्ट पता लगता है कि, अर्जुन के साथ वैर करने वाले सर्प थे। अर्जुन का नाश करने के लिये योग्य समय की प्रतीक्षा से अराजक सर्प कर रहे थे। कर्ण और अर्जुन का युद्ध हो

रहा था, यह देख कर इस अवसर से लाभ उठानेका निश्चय इन अराजक सर्पोंने किया।

यहां पाठक देख लें कि इन अराजक सर्प युवकोंकी कितनी चतुराई थी। ये भीष्म, द्रोण आदि वीरों के साथ मिलकर अर्जुन का नाश करनेके लिये उद्युक्त नहीं हुए। क्यों कि ये अच्छी प्रकार जानते थे, कि भीष्मद्रोणादि वृद्ध महारथी अर्जुन का नाश कभी नहीं करेंगे। और इनके साथ मिलनेसे अपनाही नाश होगा।

कर्ण के साथ मिलनेमें इनको कोई धोखा नहीं था। क्योंकि अर्जुन का वध करने की हार्दिक इच्छा कर्णके अंदर थी, कर्ण का कई वर्षोंसे इसी उद्देश्यसे प्रयत्न भी था। इसी कार्य के लिये विशेष प्रकार के शस्त्रास्त्र कर्णने अपने पास जमा करके रखे थे और कौरवोंके पास अर्जुनका सच्चा विद्वेषी कर्ण के सिवाय दूसरा कोई नहीं था। इसी लिये समद्वेषी सर्प युवक कर्णके पास आया और कर्ण के साथ मिलकर अर्जुन का नाश करनेका यत्न करने लगा। कई विशेष प्रकार के विषैले बाण तैयार करके इस सर्पने लायेथे और उसने इन बाणोंको कर्णकी तूणीरमें रख दिये। मनशा यह था कि, इन बाणोंसे अर्जुनका वध हो जावे।

उनमेंसे एक बाण कर्णने चलाया, परंतु वह अर्जुन के मुकुट पर लगा। उस बाणमें ऐसा कुछ मसाला भरा था कि, उस कारण अर्जुन का मुकुट हीं जलगया! देखिये—

> स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टो हुताशनार्कप्रतिमो महार्हः। महोरगः कृतवैरोऽर्जुनेन किरीटमाहत्य ततो व्यतीयात् ॥ ४३ ॥ तं चापि दग्ध्वा तपनीयचित्रं किरीटमाकृष्य तदर्जुनस्य। इयेष गंतुं पुनरेव तूणं दृष्टश्च कर्णेन ततोऽब्रवीत्तम् ॥ ४४ ॥

म० भा० कर्ण० ९०

"कर्णके हाथसे चलाया हुआ वह बाण अर्जुन के मुकुट पर लगा और उस कारण उसका मुकुट जल गया!" इस प्रकारके भयानक विषमय मसालेसे वह बाण तैयार किया था। यदि यह बाण शरीरपर लगता तो शरीर भी इसी प्रकार जल जाता! अराजक युवकों की यह कपट युक्ति इस प्रकार भयानक थी परंतु इसबार अर्जुन का बचाव हुआ, फिर भी वही अराजक सर्प कर्णकी तूणीर के पास आगया और बोला कि—

> मुक्तस्त्वयाऽहं त्वसमीक्ष्य कर्ण शिरोहृतं यन्न मयाऽर्जुनस्य। समीक्ष्य मां मुंच रणे त्वमाशु हंताऽस्मि शत्रुं तव चात्मनश्च ॥ ४५ ॥

म० भा० कर्ण० ९०

" हे कर्ण ! पहिलीवार तुमने ठीक न देख कर बाण छोड दिया, इस लिये यह बाण सिरपर न लग के मुकुटपर लगा । अब की वार पुनः इसे ऐसा देख कर चला, कि जिससे तेरे और मेरे दोनों के शत्रु अर्जुन का हनन ठीक प्रकार होजाय । " यह भाषण श्रवण करके वीर कर्णको बडा क्रोध आया, क्यों कि कर्ण जैसे अद्वितीय वीरको यह युवक बोला कि " पहिलीवार ठीक देख कर बाण नहीं चलाया, अबकी वार ठीक देख कर चला, " ये शब्द किसी भी वीर को अपमानास्पद ही हैं । और आत्मसंमानी कर्णके लिये तो ये शब्द असह्य ही हुए । ये कठोर शब्द सुन कर कर्णने पूछा कि " तू कोन है ! " उत्तर में उसने कहा—

नागोऽब्रवीद्विद्धि कृतागसं मां
पार्थेन मातुर्वधजातवैरम् ॥

म० भा० कर्ण० ९०।४६

" मेरी माताका वध करनेके कारण अर्जुनने मेरा बडा अपराध किया है " और इसलिये मैं अर्जुन का बदला लेना चाहता हूं । यह बात सुननेके पश्चात् आत्मसंमानी वीर कर्ण आर्य वीरके समान बोला—

न नाग कर्णोऽद्य रणे परस्य
बलं समास्थाय जयं बुभूषेत्

म० भा० कर्ण० ९०

" हे सर्प ! वीर कर्ण दूसरेकी शक्ति का आश्रय करके जय प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करेगा । " अर्थात् आर्य जातिके शत्रुकी सहायता लेकर आर्यवीर का नाश करनेकी इच्छा करनेवाला कर्ण नहीं है । कर्ण के अंदर इतनी शक्ति है कि, जिससे वह अपने शत्रुका पराजय कर सकता है । यह कर्णका भाषण श्रवण कर अराजक सर्प युवक हताश होकर, अब कर्णके आश्रय की आशा छोड कर, स्वयंही अर्जुन का बदला लेनेका यत्न करने के लिये प्रवृत्त हुआ-

इत्येवमुक्तो युधि नागराजः
कर्णेन रोषादसहंस्तस्य
वाक्यम् । स्वयं प्रायात्पार्थ
वधाय राजन् कृत्वा स्वरूपं
विजिघांसुरुग्रः ॥ततः कृष्णः
पार्थमुवाच संख्ये महोरगं
कृतवैरं जहि त्वम् ॥ ८० ॥

म. भा. कर्ण. ९०

" यह कर्णका भाषण सुन कर वह सर्प अर्जुनका वध स्वयं करनेकी इच्छा-से अपना रूप उग्र बनाकर अर्जुन पर दौडा । यह देख कर श्रीकृष्ण अर्जुनसे बोले, कि हे अर्जुन ! यह तेरे ऊपर हमला करने के लिये सर्प आ रहा है, इस वैरी का तू हनन कर । "

यहां तक सर्प कुमारों के अंदर अर्जुन के विषयमें द्वेष था । और इस प्रकार ये नवयुवक बदला लेनेके लिये प्रयत्न करते थे । परंतु अर्जुनादि आर्य वीरोंका

अद्वितीय प्रताप होनेके कारण उनकी इच्छा सफल नहीं होती थी । इसी रीति से यहां भी उक्त अराजक सर्प के प्रयत्न सफल नहीं हुए । कर्णने उसकी सहायता करनेसे इनकार किया और इस लिये वह स्वयं अर्जुनपर दौडा, परंतु अर्जुनने एक बाणसे ही उसको यमराज का पाहुना बना दिया !

सर्प अराजक क्यों बने ?

यहां प्रश्न होता है कि, सर्प जातीके अंदर इतना वैर आर्य राजाओं के संबंध में क्यों था ? आर्य राजाओंने सर्प जातीके ऊपर कौनसा अत्याचार किया था, कि जिस कारण सर्प जातीके लोग राजवध करने के लिये भी प्रवृत्त हुए थे ? इसका उत्तर महाभारत का लेखक ही देता है—

> योऽसौ त्वया खांडवे चित्र- भानुं संतर्पयानेन धनुर्धरेण। वियद्‌गतो जननीगुप्तदेहो मत्त्वैकरूपं निहताऽस्य माता ॥६२॥ स एष तद्वैरमनुस्मरन्वै त्वां प्रार्थयत्यात्मवधाय नूनम् ।
>
> म. भा. कर्ण. ९०

श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन ! खांडव वन का दाह करनेके समय इसीकी माताको तुमने हनन किया था, उस सर्पी का यह पुत्र अश्वसेन सर्प उस वैर का स्मरण करके अपना वध करनेके लिये ही, मानो, तेरी प्रार्थना कर रहा है ।"

सर्पके भाषण में भी यही बात है । सर्पजातीपर जो अत्याचार दिग्विजयी अर्जुनने खांडववनके दाह करने के समय किये थे, उन अत्याचारोंके कारण ही सर्पजातीके अंदर आर्योंके विषयमें विशेषतः अर्जुन के वंशजोंके विषयमें बडा ही वैर भाव हुआ था । अर्जुन ने खांडव वन में क्या किया था, इस का अब विचार करना चाहिये । उसका इतिहास यह है—

खांडव वनका दाह ।

इंद्रप्रस्थ और खांडवप्रस्थ ये दो विभाग पंजाब प्रांत के थे । देहली के पासका भाग इंद्रप्रस्थ नामसे प्रसिद्ध था । इसमें आबादी होगयी थी और नगरादि वसे थे । खांडव प्रस्थमें बडा भारी जंगल था, करीब दोतीन सौ मील का विस्तार इस महावन का था । इस वन पर इस समय शासनाधिकार तिब्बत निवासी देवसम्राट् इंद्र का था और इंद्र के शासनके नीचे असुर, दानव, राक्षस, सर्प, आदि जातियां वहां रहती थीं ।

अर्जुनके मनमें वहां आर्योंकी वस्ती करने का विचार आगया, परंतु वहां वस्ती करके रहना सुगम कार्य नहीं था । असुर राक्षसों से नाना प्रकारके कष्ट होना संभव था । इस लिये अर्जुन और श्रीकृष्णने विचार कर यह निश्चय किया कि इस खांडव वन को आग लगाई जाय

इस निश्चयके अनुसार उन्होंने उस वनको चारों ओरसे आग लगादी और जहां जहांसे भागनेके मार्ग थे उन पर स्वयं शस्त्रास्त्रोंसे सज्ज होकर रहे। इससे यह हुआ कि बहुतसी जातियां अग्निके कारण जल मरीं, जिन्होंने भागने का यत्न किया वे इन अर्जुनादि आर्य वीरोंके तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मारेगये। इस प्रकार संपूर्ण खांडववन में रहने वाली जातियोंका क्रूरताके साथ अर्जुन ने नाश किया !!!

खांडववन पंद्रह दिनतक जल रहा था, इससे वनके विस्तार की कल्पना हो सकती है! ऐसे विशाल वनमें कितनी जातियां मारी और जलायीं गई, इसका कोई हिसाबही नहीं। इसका वर्णन आदिपर्वके अंतमें पाठक देख सकते हैं, यहां थोडासा नमूना देखिये—

तौ रथाभ्यां रथिश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ। दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥ समालिंग्य सुतानन्ये पितॄन्भ्रातॄनथाऽपरे। त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

म. भा. आदि. २२८

“वन के दाह होनेके समय एक ओर अर्जुन और दूसरी ओर श्रीकृष्ण रहेथे और वे वहां के रहनेवालों का नाश करने लगे। किसीने बचेसे, किसी ने पितासे किसी किसीने भाईसे लिपट कर वास स्थल ही में प्राण छोड दिये। पर स्नेहवश उनको छोड नहीं सके।”

इस संहार का वर्णन देवोंके दूतोंने भगवान इंद्रके पास निम्न प्रकार किया—

किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना। कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १७ ॥

म. भा. आदि. २२८

“हे इंद्र! अग्नि इन मानवों को जला रहा है जैसा कि प्रलय ही आगया है।”

इसके पश्चात् कृष्ण और अर्जुन के साथ देवोंका युद्ध हुआ, देवों का पूर्ण पराजय हुआ, देव तिब्बतमें भागगये और अर्जुन का अधिकार खांडव प्रस्थ देश पर होगया। इस वनमें सहस्रों अनार्य जातिके लोगों का नाश हुआ। बडी कठिनतासे छः मनुष्य बचे—

तस्मिन्वने दह्यमाने षडाग्निर्न ददाह च। अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा॥ ४७ ॥

म. भा. आदि. २३०

“अश्वसेन सर्प जातीका युवक, मय नामक असुर (जो बडा इंजिनियर था) ये दो और चार ब्राह्मण पुत्र शार्ङ्गक ये छः बचे।” अश्वसेन को गोदमें लेकर माताने बचाया, परंतु अर्जुनने उस सर्पी स्त्रीपर भी शस्त्र चलाया, और स्त्रीवध भी किया !!! मयासुर बडा भारी असुर

जातीका इंजिनियर था इसको बचाया, जिसने आगे जाकर प्रत्युपकार करनेके लिये एक बडा मंदिर पांडवोंके लिये बना दिया। अन्य चार ब्राह्मण पुत्र थे इस कारण बचे। अन्य सर्प, राक्षस और असुर कितने मरे, जले और मारे गये इसका कोई हिसाब ही नहीं।

केवल साम्राज्य बढानेके लिये।

अपना साम्राज्य बढानेके लिये इतनी क्रूरतासे अर्जुन और श्रीकृष्णने काम किया और जिस संहारमें बाल, वृद्ध, गर्भिणी स्त्रियां आदि कोभी नहीं छोडा! इस रीतिसे पांडवोंने अपना राज्य बढाया, यह कारण है कि, सर्प जातीके नवयुवक जोशसे अराजक बन कर अर्जुन और उसके वंशजों के पीछे पडे थे।

अश्वसेन ही कर्णके साथ मिलकर अर्जुनके वध का प्रयत्न करता रहा, परंतु अर्जुनके बाणसे वही मर गया। जिस समय खांडव वन जलाया गया, उस समय सर्पराज तक्षक खांडव वनमें नहीं था, वह इंद्रप्रस्थमें कुछ कार्य के लिये आया था, इस लिये बचगया। परंतु उसके मनमें अपनी जातीका इतनी क्रूरतासे अर्जुनने संहार किया इस लिये बडा वैर था। प्रयत्न करनेपर भी अर्जुन मारा नहीं गया, अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु बालपनमें ही कौरव वीरोंसे मारा गया, इस लिये अर्जुन के पोते पर अर्थात् सम्राट् परीक्षित पर पूर्वोक्त रीतिसे हमला करके सर्प जातीके लोगोंने उसका वध किया और इस प्रकार सम्राट् का वध करके सर्पोंने अर्जुनके किये अत्याचार का बदला लिया।

अराजक सर्पोंका प्रयत्न बदला लेनेके लिये इस प्रकार तीन पुश्तों तक लगातार चल रहा था। परंतु परीक्षित के समय वे सफल होगये। सफल होकर भी क्या हुआ? आर्योंने मिलकर पुनः सर्पसत्र द्वारा सर्प जातीका भयंकर संहार किया। यह संहार इतना हुआ कि वह सर्पजाती इस समय तक अपना सिर भी ऊपर नहीं उठा सकी।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, दिग्विजयी जातीके वीरों द्वारा जो अत्याचार पराजित जातीपर होते हैं, उनका बदला अराजकीय स्वरूपके अत्याचारों द्वारा लेनेका यत्न करनेसे, पराजित जातीका कदापि उद्धार होने की संभावना नहीं है। अराजकता के अत्याचार जो करते हैं, उनके उद्देश्य कुछ भी क्यों न हों, वे अत्याचार करने वाले अराजक अपने अत्याचारोंके कारण अपनी जातीकी उन्नति नहीं कर सकते। इस लिये पददलित जातियों को उचित है कि वे अपनी प्रवृत्ति अराजकीय अत्याचारों की ओर न झुकाकर, दूसरे अहिंसामय अनत्याचारी मार्गों का ही आक्रमण करके अपनी जातीय उन्नतिका साधन करें।

महाभारतसे यह बोध मिलता है।

पाठक इसका विचार करें ।

सारांश ।

(१) दिग्विजयी जाती दलित जातीपर अत्याचार करती है, और अपना साम्राज्य बढाती है, इस कारण पददालित जातीके लोग अराजक बनते हैं, अर्थात् अराजकता का दोष पददलित जातिके पास नहीं होता है, परंतु दिग्विजयी जाती के क्रूर व्यवहार में होता है ।

(२) अराजक वृत्तिके अत्याचारों से उन्नतिकी संभावना नहीं है, परंतु नुकसानही अधिक है, इस लिये अनत्याचारी मार्ग ही प्रशस्त है ।

सर्प जाति ।

सर्प जाती कौन थी, इसका भी यहां विचार करना चाहिये ।

"सर्प" शब्द का अर्थ "हट, दूर हो, दूर खडा रह" ऐसा है । यह क्रियावाचक शब्द है । आर्यजाती इन को घृणाकी दृष्टिसे देखती थी, इस लिये जिस प्रकार दिग्विजयी युरोपीयन लोग इस समय आफ्रिकामें हिंदुस्थानियोंको रास्तोंपर से चलने नहीं देते, शहरों में बसने नहीं देते, गाडीयोंमें बैठने नहीं देते अर्थात् हरएक समय "दूर खडा रह" ऐसाही कहते हैं, उसी प्रकार दिग्विजयी आर्यलोग हीन जातियोंको कहा करते थे । ये हीन लोग ही "सर्प" हैं । इस जाती पर कितना अत्याचार हुआ इसका थोडासा वर्णन इस लेखमें किया ही है ।

अस्तु । तात्पर्य यह है कि, पददालित जातिके लोगोंको यदि सचमुच अपनी उन्नति करना है, तो अराजक वृत्तिसे अत्याचार करके किसी सम्राट् का, या किसी ओहदेदारका, वध करनेसे वह उन्नति प्राप्त नहीं होगी । उनको अपनी उन्नति करने के लिये अनत्याचारी अहिंसामय धर्म मार्गोंकाही अवलंबन करना चाहिये । यह बात महाभारत में अराजक सर्पोंके षड्यन्त्रके वृत्तांतसे कही है। पाठक इसका विचार करें और उचित बोध ले लें ।

महाभारत की समालोचना।

प्रथमभाग--विषयसूची।

चित्रसूची

ॐ

महाभारत की

समालोचना।

द्वितीय भाग।

—:(❀):—

लेखक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मण्डल, औंध (जिल्हा सातारा.)

—:(❀):—

संवत १९८३, शाके १८४८, सन १९२६.

मूल्य ८ आने।

—:(०):—

विशेष सूचना।

निरुक्तादि ग्रंथ देखनेसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, आधियाज्ञिक आदि पक्षोंकी विद्यमानता स्पष्ट दिखाई देती है। आध्यात्मिक पक्ष आत्मा और उसकी शक्तियोंका विचार करता था और आधिभौतिक पक्ष मानवी इतिहास की दृष्टीसे वही बातें देखता था। आधिदैविक पक्ष ग्रह नक्षत्र ताराओं में वही भाव देखता था तो आधियज्ञिक पक्ष केवल याजक होनेमें ही संतुष्ट रहता था। इन सब पक्षोंकी युक्तायुक्तता की सिद्धता करना यहां हमारा कर्तव्य नहीं है, परंतु यहां इतना ही दिखाना है कि देवलोकादिकों के स्थान निर्देश करनेका जो इस भागमें यत्न किया है वह आधिभौतिक (अर्थात् मानव समष्टी की दृष्टीसे) – इतिहासिक दृष्टीसे ही किया है। यह खोज और भी दूर तक पहुंच सकती है, परंतु हमने उतनी दूर जानेका इस लेखमें यत्न नहीं किया है केवल महाभारतके प्रमाणोंको सामने रखकर ही यह विचार प्रस्तुत किया है।

इंद्रादि शब्द आध्यात्मिक पक्षमें आत्मादिकों के वाचक, आधिदैविक पक्षमें सूर्यादिकों के वाचक जैसे होते हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक-इतिहासिक पक्षमें देव नामक जातीके राजाके भी वाचक होते हैं। इस दृष्टीसे यह आधिभौतिक पक्ष से विवेचन है। और इस विषयोपन्यास से आध्यात्मिक आदि अन्यान्य पक्षोंका खंडन नहीं होता है। जो लोग इस पक्षोपन्याससे अन्य-पक्षोंका खंडन समझेंगे उनको उक्त सब पक्षोंके समन्वयका ज्ञान नहीं हुआ ऐसा ही मानना चाहिये।

आत्मिक उपासना द्वारा आत्मशक्ति के विकास के लिये आध्यात्मिक पक्ष की सत्ता है और वह सब पक्षों के ऊपर ही है। उससे दूसरे दर्जेपर आधिभौतिक पक्ष का अस्तित्व है। और तीसरे स्थानपर मानवसमष्टिके भाव दर्शानेके कारण आधिभौतिक पक्षका अवस्थान है। अर्थात् तीनोंके क्षेत्र बिलकुल भिन्न हैं अतः एक का विचार करनेके समय दूसरे पक्षका खंडन हुआ ऐसा मानना प्राचीन विचार पद्धतिके नितान्त प्रतिकूल है।

कथाओं में भी तीन भेद हैं सृष्टिरचना आदि कथाएँ आत्मशक्तिसे संबंधित हैं, कई कथाएं सूर्य चंद्रादिकों के साथ भी संबंधित हैं और कई केवल मानवी इतिहास रूप ही हैं। इतिहास ग्रंथोंमें उक्त तीनों प्रकारकी कथाएं मिलीजुली होनेसे मानवी कथाओंके दोष जगद्रचयिता देवों पर जा बैठते हैं। जैसे अहल्या इंद्र संबंध की कथा का है। यदि वह संबंध केवल मानवों का ही इतिहास माना जाय तो जगद्रचना करनेवाले इंद्रपर वह दोष नहीं लग सकता। इस दृष्टीसे कथाओंका वर्गीकरण करने के सीधे मार्गकी सुगमता करनेके हेतुसे देवनाम धारण करने वाली मानव जातीके स्थानोंका निर्देश यहां बताया है। जिस समय इस प्रकार खोज होते होते संपूर्ण कथाएं तीनों स्थानोंमें पूर्ण रीतिसे बट जायंगी, उस समय ही इस लेख का फल व्यक्त रूपसे पाठकोंके हृदयमें पहुंच सकता है।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे अधिक विचार करनेका यत्न करेंगे और इस खोज के सहायक बनेंगे।

निवेदक

स्वाध्यायमंडल औंध (जि. सातारा) १२ चैत्र सं. १९८३ — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

महाभारत कालीन देशव्यवस्था।

महाभारत का काल कौरव पांडवोंका समय समझना चाहिये। महाभारत ग्रंथकी रचना का समय इससे बहुत ही आधुनिक है। महाभारत कालमें अर्थात् कौरव पांडवों-के समय तथा उससे पूर्वके समय इस भूपृष्ठपर विविध देशोंकी व्यवस्था किस प्रकार थी, यह बात विचार पूर्वक जानना आवश्यक है। उस समय के भूगोल का ठीक ठीक ज्ञान होने पर ही संपूर्ण पौराणिक कथाओंका इतिहास समझमें आना संभव है, अन्यथा नहीं। इस लिये इस लेखमें इस प्राचीन भूगोलिक देशव्यवस्थाका विचार करनेका संकल्प किया है। देशोंका विचार करनेके समय सबसे प्रथम "देवलोक" का विचार करना आवश्यक है; क्यों कि देवलोक का निश्चय होते ही उसके संबंधसे अन्यान्य देशोंका निश्चय सुगमताके साथ हो सकता है। इस लिये सबसे प्रथम देवलोक का हम निश्चय करते हैं। —

देवलोक।

कोशोंमें देवलोक के नाम ये हैं- स्वर्गलोक, अमरलोक, स्वर्लोक, सुवरलोक, सुरलो-क, द्युलोक, वृन्दारकलोक, त्रिदिव, त्रिदशालय, त्रिविष्टप किंवा विष्टप। इन नामोंमें विष्टप अथवा त्रिविष्टप शब्द विशेष विचारणीय है—

*

त्रिविष्टप।

"त्रिविष्टप" शब्दका अपभ्रंश रूप आजकल "तिब्बत" है यह प्रदेश हिमाचलकी उत्तर दिशामें है। संस्कृतमें विष्टप और त्रिविष्टप शब्द एकही अर्थमें आता है। "विष्टप" शब्द "विश्" धातुसे बना है, विश् धातुका अर्थ अन्दर घुसना, प्रवेश करना अर्थमें सुप्रसिद्ध है, अतः इसका धात्वर्थ यह होता है कि प्रवेश करने योग्य प्रदेश। "त्रि — विष्टप" शब्दका अर्थ तीन मार्गोंसे प्रवेश करने योग्य प्रदेश। तिब्बतके दृश्योंकी सुन्दरता और मनोहारिताके कारण हरएक मनुष्य वहां प्रवेश पानेकी चेष्टा करता है और उस देश को पहुंचनेके तीन मार्ग हैं यह पता इन शब्दोंके विचार से लगता है। त्रिविष्टपमें जानेके संभवतः अनेक मार्ग होंगे, परन्तु सब मार्ग सुगम नहीं हैं, केवल तीनही सुगम मार्ग हैं, इतनाही इसका तात्पर्य समझना योग्य है। आजकलभी तिब्बतमें पहुंचनेके लिये सुगम मार्ग तीन ही हैं, परन्तु दुर्गम मार्ग कई हैं। सब लोग जिनसे जा सकते हैं वैसे केवल तीन ही हैं। मनुष्य प्रयत्नसे आजकल अधिक बन सकेंगे परन्तु जिस समयका विचार हम कर रहे हैं, उस समय केवल तीन ही थे, इतना भाव इस "त्रि – विष्टप" शब्दसे ध्वनित होता है।

इस त्रिविष्टपमें अर्थात् स्वर्गलोकमें देव रहते थे। प्रायः संस्कृतमें "लोक" शब्द "देश" किंवा "राष्ट्र" वाचक है, इससे यह अर्थ बनता है, कि "देवलोक" शब्द "देवोंका देश" अथवा "देवों का राष्ट्र" इस अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। "देवराष्ट्र" शब्द संस्कृतमें भी है। तथा महाराष्ट्रमें "देवराष्ट्रे" नामकी एक जातीभी है और इस नामका ग्रामभी है। जिला सातारामें देवराष्ट्र डाकखानाभी है। यह ग्राम प्रथमतः उन लोगोंने वसाया जोकि पूर्वोक्त देवोंके राष्ट्रसे वीर यहां आकर बसे थे। हम आगे जाकर बतायेंगे कि इस तिब्बत की देव जातीके लोगोंने भारत वर्षमें आकर कई ग्राम और नगर बसाये हैं, उनमेंसे यह भी एक नगर है। तिब्बतमें इस प्राचीन कालमें जो मनुष्य रहते थे वे अपने आपको "देव" नामसे संबोधित करते थे। यह एक बात यदि ठीक प्रकार समझमें आवेगी, तो बहुत सारी पुराणकी कथाएं समझमें आसकती हैं।

जिस प्रकार बंगालके लोग अपने आपको बंगाली कहते हैं और चीन देशके लोगोंको चीनी कहते हैं उसी प्रकार इस देवराष्ट्र किंवा देवलोक के बाशिंदोंका नाम "देव" था। अर्थात् ये भी मनुष्य ही थे। इतनी सीधी बात बहुत लोग भूलते हैं, इस कारण महा-

भारतकी कई कथाएं उनके समझमें नहीं आतीं और किसी समय कई लोग अर्थका अनर्थ भी करते हैं। जिस समय पाठक लोग असुर दानव तथा राक्षस आदि लोगोंका वर्णन इस लेखमें पढेंगे, उस समय उनका निश्चय हो जायगा कि वेभी मनुष्य ही थे, परंतु विभिन्न देशोंमें रहनेके कारण उन विभिन्न जातियोंके ही ये विभिन्न नाम उस समय प्रसिद्ध थे।

पुराणों और इतिहासों की कथाओंका मनन करनेके समय यौगिक अर्थको बीचमें मरोडकर लाकर कई लोक भी इनका इतिहासिक सत्य नष्ट भ्रष्ट करनेका निंदनीय यत्न करते हैं। उनके प्रयत्नका निकृष्ट रूप भी इस लेखमें व्यक्त हो जायगा। हम यह कदापि नहीं कहते, कि इन देव आदि शब्दोंको यौगिक भाव नहीं है। हमारा भी पक्ष है कि इन शब्दोंका यौगिक अर्थभी है, परंतु वह अर्थ आध्यामिक-- तत्त्वज्ञानविषय-का विचार करनेके समय उपयोगी है। इतिहासिक खोजके लिये वह अर्थ लेना योग्य भी नहीं है।

निरुक्तकार आध्यात्मिक अर्थ की सूचना यौगिक अर्थ के द्वारा बताते हुए इतिहासिक तात्पर्य भी साथ साथ बताते हैं, इसका कारण भी यही है। नैरुक्त यौगिक अर्थ लेनेपर भी उन शब्दोंका अन्य स्थानमें प्रकट होनेवाला इतिहासिक आदि अर्थ खोया नहीं जा सकता। अस्तु। तात्पर्य इतना ही है, कि इतिहासिक प्रसंगमें देवजाती के मानवों की खोज हम प्राचीन तिब्बत में कर सकते हैं। अर्थात् ये तिब्बत में रहनेवाले देवजातीके लोग थे। देव शब्दका आध्यात्मिक तथा यौगिक अर्थ भिन्न है और उस अर्थके होते हुए भी देवजातीके लोगोंका प्राचीन समय में अस्तित्व मारा नहीं जा सकता।

ये "देव" नामक जातीके लोग त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बतमें रहते हुए भारत वर्षमें समय समयपर आते थे और यहां के वीरों से लडते थे, किसी समय यहां के राजाओंसे मित्रताभी करते थे, यहां की स्त्रियोंसे शरीर संबंध करके संतान भी उत्पन्न करते थे, और कभी कभी आर्यावर्तोंके वीरोंद्वारा पराभूत भी होते थे। तात्पर्य दो विभिन्न मानव जातियोंमें जो जो सामाजिक और राजकीय संबंध होना संभव है, वे सब संबंध इन भारवर्षीय आर्य लोगों और त्रिविष्टप देशीय देवलोगोंके प्राचीन समयमें होते थे; इसके कुछ उदाहरण हम विस्तार रूपसे आगे देंगे परंतु सूचनार्थ यहां भी दिये जाते हैं—

१ देवोंके राजा इंद्र का कुंतीसे शरीर संबंध होकर अर्जुन की उत्पत्ति होनी,
(म० आदि० अ० १२३ श्लो० २२–२५)

२ अर्जुन का इंद्रसे युद्ध होकर इंद्रका पराभव होनेका वृत्तांत खाण्डवदाह पर्वमें पाठक देख सकते हैं। (म० भा० आदि० अ० २२९)

३ दशरथ राजा देवराज इन्द्र की सहायता करनेके लिये स्वर्गमें गयाथा और असुरों के साथके युद्धमें उसने देवोंके पक्षमें रह कर युद्ध किया था।
(रामायण अयोध्या० सर्ग १२ श्लो १८–१९)

४ अर्जुन शस्त्रास्त्र विद्या सीखने के लिये स्वर्गमें इंद्र के पास जाकर रहा था।
(म. भा० वन. अ. ४४ – ४५)

इस प्रकारकी सैकडों कथाएँ इतिहासमें और पुराणग्रंथों में हैं और वह न्यूनाधिक भेद से सब लोग जानते भी हैं। इनसे सिद्ध है, कि " देव " भी एक प्रकारके मनुष्य ही थे और वे तिब्बतमें रहते थे। भारत भूमिमें जो मनुष्य रहते थे, वे आर्य कहलाते थे और मनुष्य आदि भी उनके नाम थे। और इनसे असुरादिकों की भिन्न जाती भी। इस देवजातीके मनुष्य रूप होनेकी सिद्धता करनेके लिये " देवयोनि " के लोगोंका भी विचार करना चाहिये —

देवयोनिः।

इस शब्दका अर्थ यह है—" देवाः योनिः उत्पत्तिस्थानं येषां ते देवयोनयः।" (अमरव्याख्या भट्टोजी दीक्षित) अर्थात् "देव ही जिनकी उत्पत्तिके कारण हैं।" इस अर्थका अंतर्गत भाव यह है कि देवोंके पितृसंबंध से इन देवयोनियोंकी उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति यद्यपि देवोंसेही अर्थात् पूर्वोक्त देवजातीके पुरुषोंसे हुई है, तथापि देवजातीसे भिन्न अन्य जातीकी स्त्रियोंसे हुई है। इतनी विशेष बात यहां स्मरण रखना चाहिये।

जिस प्रकार अपने हिंद देशमें युरोपीयन पुरुषोंके संबंधसे हिंदी स्त्रियोंमें संतति आजकल होती है और उस संततीका नाम "युरेशियन " अर्थात् (युर्+एशियन् =) युरोपीयन और एशियन से उत्पन्न संतती कहते हैं ; ठीक उस प्रकार देव जातीका पुरुष और अन्य जातीकी स्त्री इनसे उत्पन्न संतति "देवयोनि" नाम से उस समय प्रसिद्ध थी। स्वजातीकी विवाहित स्त्रीके अंदर संतान उत्पन्न करना धर्मकी बात है, परंतु

इस प्रकार कामेच्छा से प्रेरित होकर पराजित देशकी नारियोंमें संतति उत्पन्न करना कोई विशेष प्रशंसनीय बात नहीं है। यह "देवयोनी" नामकी संतति इस बातका स्पष्ट विज्ञापन दे रही है, कि देवजातीके पुरुषोंमें ब्रह्मचर्यका उतना तीव्रतप नहीं था, जितनाकी लोग वर्णन करते हैं। ये देवयोनी के लोग मिश्रित संततिके लोग थे। तिब्बतके देवजातीके पुरुषोंका वीर्य और तिब्बतके आसपास की पहाडियोंकी स्त्रियोंका रज इनके मिश्रणसे "देवयोनी" जातियोंकी उत्पत्ति हुई थी। ये देवयोनी नामकी जातियां दस गिनी हुई हैं। देखिये —

विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥
अमर। १। ११

"विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, रक्षस्, गंधर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत ये दस देवयोनी जातियोंके लोग हैं।" अर्थात् देवयोनी के अंदर दस जातियोंके लोग हैं। पाठक पूछ सकते हैं कि देवयोनी के अंदर दस जातियां क्यों उत्पन्न हुई? इसका वास्तविक तत्त्व देखने के लिये यह आजकल की अवस्थाकाही विचार करेंगे। युरोपीयनों का साम्राज्य प्रायः सब देशोंमें हैं, हिंदुस्थान, इजिप्त, अफ्रीका, अरबस्थान, अमरिका आदि स्थानोंमें इनका राज्य है। और प्रायः जहां जहां ये यूरोपीयन लोक विजय पाते हुए पहुंचे हैं, वहांकी निकृष्ट जातियों की स्त्रियोंसे संबंध करके इन्होंनें मिश्र संतानभी उत्पन्न किये हैं। हरजातीके स्त्रियोंके देश और उनकी जाति विभिन्न होनेके कारण उनसे उत्पन्न मिश्र संतानभी उतनी विभिन्न जातियों वाले होने स्वाभाविक ही हैं। हिंदी मिश्र संतान और हबशी मिश्र संतान इनकी एक जाती नहीं हो सकती। इसी प्रकार दस विभिन्न जातियों की स्त्रियों के साथ देवजातीके पुरुषोंका शरीर संबंध होनेके कारण पूर्वोक्त दस "देवयोनी" नामक संकीर्ण जातियां उत्पन्न होगई थीं। अब इसका विचार देखिये —

भूत जाती।

भूतस्थान जिसको आजकल "भूतान" कहते हैं उसमें भूत जातीका निवास था। यह भूतान नैपालकी पूर्व दिशामें और बंगाल की उत्तर दिशामें तथा तिब्बतकी दक्षिण दिशा में हिमालय की पहाडीमें है। त्रिविष्टप के देवों द्वारा यह भूत स्थान पराजित

होचुका था और यहां देवजातीके वीरों का राज्य हुआथा । इस समय देवजातीके पुरुषों द्वारा भूत जाती की स्त्रियोंमें जो मिश्र संतति हुई वह भूत नामसे प्रसिद्ध हुई। संभव है, कि इस देशके मूल रहिवासियोंका उस समयका नाम कोई भिन्न ही होगा, परंतु इस समय उस नामका पता नहीं चलता । कदाचित संभव होगा कि यदि पुराणोंकी अधिक खोज की जाय तो भूतजातीका प्राचीन नाम उपलब्ध होगा ।

आज भी यह भूत जाती विद्यमान है और उनके देशका नाम "भूतान" है । यह बात स्पष्ट है कि यह जाती देवयोनी अर्थात् देवजातीके पुरुषोंसे उत्पन्न हुई थी । अतः हम कह सकते हैं कि भूत जातीके पितृरूप देवजातीके पुरुष भी भूतजातीके समान ही मनुष्य सदृश होना स्वभाविक है । भूत जातीके लोगोंका इस समय भी अस्तित्व इस प्रकारकी इतिहासिक खोजके लिये बडा भारी सहायक है, यह बात पाठकोंके ध्यानमें इतने विवेचनसे आचुकी होगी । पूर्वोक्त देवयोनी की मिश्र जातियों में भूत जातीका थोडासा विचार हुआ, अब उसके साथवाली पिशाच जाती का विचार करेंगे —

पिशाच जाती

कश्मीर और अफगाणिस्थानके आसपास पिशाच जातीका स्थान था । पिशाच जातीके लोगोंका अस्तित्व इस समय यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि पिशाच भाषा का अस्तित्व अर्थात् पिशाच भाषाके ग्रंथ विद्यमान हैं । सुप्रसिद्ध कथासरित्सागर ग्रंथ मूलमें पैशाच भाषामें ही लिखा गया था । तथा दूसरे बहुतसे ग्रंथ पैशाच भाषामें लिखे उपलब्ध हैं। नाटकों में प्राकृत भाषा स्त्रीशूद्रों के बोलनेमें प्रयुक्त होती है। उस प्राकृत भाषाके कई भेद हैं, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, तथा पैशाची ये चार भेद उनमें मुख्य हैं, इन चार प्राकृत भाषाओंमें पैशाची सबसे निकृष्ट प्रकारकी है, अर्थात् यह अति हीन जातीके लोगोंकी अपभ्रष्ट बोली है । इस कारण नाटकों में भी प्रतिष्ठित पुरुषोंके मुखमें यह बोली नहीं लिखते हैं, परंतु अति निकृष्ट मनुष्योंके लिये ही यह प्रयुक्त होती है ।

इस से सिद्ध होता है, कि पिशाच जाती एक अति हीन जाती थी जिसकी बोली नाटकों में भी उच्च वर्णके लोग बोलते नहीं, प्रत्युत हीन जातीके ही लोग बोलते हैं। ये हीन और निकृष्ट पिशाच जातीके लोग "देव योनी" जातीके लोग हैं, अर्थात् इन-

के पिता देवजातीके पुरुष और माता किसी अन्य जातीकी स्त्री, इस प्रकार की मिश्र संतति यह है।

"पिशितं मांसं अश्नाति इति पिशाचः।"

अर्थात् "मांस खानेवाला पिशाच" कहलाता है। मांस भोजी गोश्तखोर इस अर्थका पिशाच शब्द है। यह शब्द स्पष्टतासे बता रहा है, कि जिन लोगोंने इस जातीयोंको यह नाम दिया वे अवश्य निर्मांस भोजी थे। अस्तु।

त्रिविष्टपसे पश्चिम और दक्षिण दिशाके मध्यमें नैर्ऋत्य दिशामें पिशाच जातीका अस्तित्व था। इसीलिये निर्ऋति दिशा का यह नाम भी "विनाश"का ही सूचक है। निर्ऋति शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें "विनाश, दुःख, मृत्यु" आदिप्रकारका है। पिशाचों, मांसभोजियों तथा क्रूर हिंसक मनुष्योंका अस्तित्व इस दिशामें होनेसे संभवतः इस दिशाका भी नाम विनाशका सूचक हुआ होगा। इस विचार से भी विदित होता है, कि पिशाच जातीके लोग बडे क्रूर कर्म करने वाले थे। और इस कारण इनसे लोग डरते थे।

आजकल भी ऐसी कई क्रूर जातियां हैं जिनसे ग्राममें रहनेवाले लोग डरते रहते हैं, उन जातियोंका यहां नामनिर्देश करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका अनुभव सबको है। उसी प्रकार प्राचीन कालके पिशाच लोग बडे क्रूर कर्मा थे और इनसे सब लोग दुःखी थे। इस जातिकी उत्पत्ति देवोंके वीर्य से हुई थी, इस से सिद्ध है कि देव जाती भी मनुष्योंके समान ही मानव जातीं थी और वह तिब्बतमें राज्य करती थी।

इस पिशाचके समान गुणधर्मवाली जातीका वाचक "सिद्ध" शब्द है और यह जातीभी "देव योनी" जाती ही है। सिद्ध शब्द हिंसार्थक "सिध्" धातुसे बना है, जो योगादि सिद्धियों से सिद्ध पुरुष बनते हैं वह सिद्ध शब्द इससे भिन्न है। यह देवयोनी सिद्ध जाती बडी क्रूर और हिंसक थी। आजकल यह जाती प्रायः नामशेष हुई है।

गंधर्व जाती।

विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, गंधर्व, किंनर, गुह्यक ये पहाडी जातियां हैं और तिब्बतके दक्षिण भागमें, तथा भारत वर्षके उत्तर भागमें हिमालय की पहाडियों में इन सब

जातियोंका स्थान था। इसमें जो "गंधर्व" शब्द है वह संभवतः " गां-धर्व " अर्थात् (गां) पृथ्वी का (धर्व) धारण करनेवाला इस शब्दका रूप दीखता है । जिस प्रकार " भू-धर " शब्द पहाड या पर्वत का वाचक है, उसी प्रकार " गां- धर " अथवा गांधर्व, गंधर्व ये शब्द भी पहाडके वाचक प्रतीत होते हैं ।

भू—धर (भूमिका धारण करनेवाला)
गां- धर (धर्व) ,, ,, ,,
गं- धर्व ,, ,, ,,

इस सादृश्यसे उक्त बातकी सूचना अवश्य मिलती है। अप्सराओंका रहनेका स्थान तिब्बत और भारतवर्ष के बीच में था अर्थात् हिमालय की पहाडियों में था यह बात सुप्रसिद्ध है। इन पहाडियों से अप्सराएं देव लोगोंके देशमें जाती थीं और इधर आर्यों के देशमें भी आती थीं। पुरूरवा उर्वशी आदि की कथाओंमें इनके आने जानेके जो वर्णन हैं इससे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है।

यक्ष जाती ।

उक्त देवयोनी जातियों के नामों में " यक्ष " भी एक नाम है। इस नाम की उत्पत्ति निम्न प्रकार की जाती है –

१ इः इव अक्षिणी यस्य ।
२ इः ह्यक्षिषु यस्य ।

अथार्त् (१) कामदेवके समान आंख वाला अथवा (२) काम जिसके आंखोंमें है। " इ " शब्दका अर्थ– " कामदेव, काम विकार, क्रोधादि भाव, धुंदी " आदि हैं। कामक्रोध आदि भी धुंदीके ही भेद हैं। जिनके आंखोंमें अस्वाभाविक धुंदी होती है। अन्योंके जैसे आंख इनके नहीं होते यह इसका तात्पर्य है। पहाडी लोगोंके आंख थोडे तिरछे, छोटे और किंचित् टेढे जैसे होते हैं। चीनी जापानी आदि मंगोलियन लोगोंके समान आंखवाले ही ये हिमालय की पहाडीके लोग होते हैं। यह आंखोंका भेद उक्त उत्पत्ति द्वारा बताया है।

यह लक्षण भी हिमालयकी पहाडियोंपर रहनेवालों में ही घटता है और यह जाती " देव योनी " होनेके कारण त्रिविष्टपके वीरोंके साथ संबंध रखती है।

इस प्रकार ये देवयोनी जातियां बता रही हैं कि देवजाती भी उनके समान ही मनुष्य जाती थी और उनका नाम ही केवल 'देव' था। जगत् की रचना आदि करने वाले देवों के साथ उनका कोई संबंध नहीं है ।

गण देव ।

देवोंके नामोंमें एक नाम " वृंदारक " है । इसमें " वृंद " शब्द समूह वाचक है। समूह, संघ, व्यूह, आदि भाव इस वृंद शब्दमें हैं । प्रशस्त संघशक्तिसे युक्त जो होते हैं, उनका नाम वृंदारक होता है । अर्थात् देवोंमें अनेक संघ थे और हरएक संघ विलक्षण शक्ति रखता था । एकताकी शक्ति जिस प्रकार इन देवोंके संघोंमें दिखाई देती थी उस प्रकार उस समय किसी अन्य जातियोंमें नहीं दीखती थी ।

ये सब देव गणशः रहते थे, अर्थात् संघशः रहते थे इस लिये ही इनको गणदेव कहते थे । हरएक गणोंके मुखिये को " गणपति " नाम होता था । गणशः अथवा संघशः रहनेका तात्पर्य खान पान, उपभोग, रहना सहना, स्त्री करना आदि सब बातें इन गण देवों की संघशः ही होती थीं । आजकल यह बात किसी भी स्थानपर प्रचलित नहीं है, इस लिये पाठकोंको प्रत्यक्ष नहीं हो सकती; परंतु कल्पनासे प्रत्यक्ष की जा सकती है । इसकी ठीक कल्पना होनेके लिये उनकी सांघिक स्त्रियोंकी कल्पना प्रथम देखनी चाहिये ।

गणोंकी स्त्री गणिका ।

गणोंमें जितने लोग होते हैं, उन सबके लिये जो स्त्रियां रखी होती हैं, उनके नाम "गणिका, यूथी, यूथिका, गणस्त्री " संस्कृतमें हैं । यह बात यहां स्मरणमें रखनी चाहिये, कि गणोंमें रहने वाले पुरुषोंके लिये अलग अलग स्त्री नहीं होती है, गणोंमें रहने वाले सब लोगोंके लिये मिलकर कुछ स्त्रियां रखी होती हैं, उनका नाम गणिका होता है । गणोंकी स्त्री होनेसे उसको गणिका, संघकी (यूथकी) स्त्री होनेसे यूथी अथवा यूथिका; ये नाम उस समयकी देवजातिके लोगोंकी सामाजिक अवस्था बता रहे हैं । ये देव जातिके मनुष्य अलग अलग परिवार बनानेकी अवस्थामें नहीं थे,

प्रत्युत अपने सब भोग संघशः ही भोग रहे थे। देवोंके वर्णनोंमें बहुत ही थोडे देव हैं, कि जिनकी शादी आदि होकर पुत्रादिपरिवार बने हैं। प्रायः ये देव मुखिया होते हैं जैसे अग्नि, इंद्र, विष्णु, महादेव आदि। गणदेव इनसे भिन्न हैं, यह देवोंके दो भेद पाठकोंको अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये। गणदेवोंका वर्णन पाठक निम्न श्लोकमें देख सकते हैं—

आदित्यविश्ववसवस्तुषिता भास्वराऽनिलाः।
महाराजिकसाध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः॥

अमर १। १०

आदित्य, विश्व, वसु, तुषित, भास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रुद्र ये नौ गण देव हैं। इनसे भिन्न जो देव हैं वे गणदेव नहीं। अर्थात् वे धर्मपत्नी आदि अलग बनाकर रहते थे। परंतु गणदेवों की रहने सहनेकी रीति संघशः होती थी। इतना भेद पाठक अवश्य स्मरण रखें। जहां स्त्रियोंपर भी संघशः ही अधिकार होता है, वहां अपनी मलकियत का मकान आदि बनना भी कठिन है। क्यों कि स्त्री का एक पतिके साथ संबंध निश्चित होनेसे ही अलग अलग कुटुंब बननेकी संभावना हो सकती है। जिस अवस्थामें सामुदायिक जीवन ही व्यतीत करना होता है, उस अवस्थामें भिन्न कुटुंबकी कल्पना करना कठिन है। इस लिये यह गण-संस्था कौटुंबिक संस्थाके पूर्व-कालीन मानना उचित है।

गणदेवोंके भेद।

निम्न लिखित श्लोकोंमें गणदेवोंके अंदरके भेदोंका वर्णन भी पाठक यहां देख सकते हैं।

आदित्या द्वादश प्रोक्ता विश्वेदेवा दश स्मृताः।
वसवश्चाऽष्ट संख्याता षड्विंशस्तुषिता मताः॥
आभास्वराश्चतुःषष्टिर्वाताः पंचाशदूनकाः।
महाराजिकनामानो द्वे शते विंशतिस्तथा॥
साध्या द्वादश विख्याता रुद्राश्चैकादश स्मृताः।

इन श्लोकोंमें गणदेवोंके अंतर्गत भेदोंका वर्णन किया है। बारह आदित्य, दस विश्वेदेव, आठ वसु, छब्बीस तुषित, चौसठ आभास्वर, उनचास अनिल (मरुत्,) दो सौ वीस महाराजिक, बारह साध्य, तथा ग्यारह रुद्र इतने गणदेवोंके अंदर भेद हैं।

जिस प्रकार आजकल भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंमें सहस्रों जातिभेद हुए हैं, जिनका उपजातीके नामोंसे वर्णन होता है; उसी प्रकारके ये भेद हैं। पाठक यहां पूछ सकते हैं कि वैदिक देवोंके ये भेद कहे जाते हैं और यहां उन शब्दोंसे देवजातीके तिब्बतनिवासी मनुष्योंका वर्णन किस प्रकार समझा जा सकता है ? इस शंकाके उत्तरमें कहना उतनाही है कि देवजातीके मनुष्य जो प्राचीन कालमें तिब्बतमें हिमालय की उत्तरकी ओर रहते थे, वे अपने नामधेय वैदिक शब्दों द्वारा ही करते थे। इस विषयमें मनुमहाराजकी भी साक्षी है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

मनुस्मृति. १ । २१

" उसने सबके नाम तथा भिन्न भिन्न कर्म वेदके शब्दोंसे ही बनाये, और उसीसे संस्थाएं भी पृथक् पृथक् बनायीं । "

देव जातीका अपने आपको देव मानना और अपने अंदर के अधिकारियोंके नाम इंद्र, बृहस्पति आदि रखना, तथा ऐंद्री, मारुती, गणराज, आदि संस्थाएं बनाना सब वेदके शब्दोंको देख कर ही हुआ था । यही आशय मनुने उक्त श्लोकों में वर्णन किया है । इसका तात्पर्य देखने और समझनेसे पूर्वोक्त देवजातीकी व्यवस्था ठीक प्रकार ध्यानमें आसकती है । अस्तु । तात्पर्य यह है कि देव जातीके राज्याधिकारियोंके इंद्र आदि नाम देखकर घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार शब्दों की समानता होना अत्यंत स्वाभाविक ही है । अस्तु । इन गणदेवों में महाराजिक गणोंके दो सौ बीस भेद हैं । ये महाराजिक ही आगे जा कर ' महाराष्ट्रिक ' नामसे आर्योंके इतिहासमें सुप्रसिद्ध हैं । ये ही महाराष्ट्रिक आजकलके " मराठे " हैं ।

महाराजिक, महाराष्ट्रिक, महारट्ठे, मरहट्टे, मराठे, मराठा, इस प्रकार रूप और रूपांतरित शब्द बनकर आजकलका " मराठा " शब्द बना है । तिब्बतकी देवजातीकी कई जातियाँ उत्तर भारतमें आगईं और वहांसे दक्षिण भारतमें उतरीं, यह बात इतिहासमें सुप्रसिद्ध है । इस प्रकार स्थानपरिवर्तन कई कारणोंसे जातियां करतीं हैं । इग्लैंद आदि देशोंसे अमरिकामें कई जातियां गईं और उन्होंनें वहां अपनी वस्ती बसाई, इस समय उन्होंने अपने ग्रामोंके, पहाडियोंके और तालोंके नाम अमरिकामें वैसे ही दिये जैसे पहिले इग्लैंद आदि देशोंमें थे । जैसा—

इंग्लैंदके नाम	अमरिकामें नाम
यॉर्क	न्यू-यॉर्क
इंग्लैंद	न्यू-इंग्लैंद
साऊथ वेल्स	न्यू-साऊथ वेल्स

इसी प्रकार कई नाम हैं, जो युरोपके निवासियोंने अमरिकामें अपने नये स्थानों को दिये हैं। भारतवर्षसे ग्रीसमें इसी प्रकार कई जातियां गईं और वहां रहीं, वहां भी ग्रामों और स्थानों को इसी प्रकार भारतवर्षके ग्रामों और स्थानों के नाम प्राप्त हुए हैं।

भारत वर्षमें मेरु सुमेरु आदि पर्वतोंके नाम तथा कुरु देशका नाम त्रिविष्टपसे आकर यहां रहे लोगोंने ही दिया है। उत्तर कुरु देश तिब्बतके ऊपर है और कुरु देश भारत वर्षमें है। ये नाम बता रहे हैं कि इनमें एक स्थानका दूसरे स्थानके साथ वैसा ही संबंध है जैसा कि हमने पूर्व स्थानमें अन्य देशवासियों के व्यवहारमें देखा है, क्यों कि मनुष्यस्वभाव प्रायः सर्वत्र समान ही है।

महाराष्ट्रमें इतने ग्राम हैं और इतने जातिवाचक नाम हैं जो देवादि प्राचीन जातियोंके साथ अपना संबंध बता रहे हैं इसका वर्णन आगे यथा योग्य अवसरपर आजायगा। यहां इतना ही बताना है, कि गणदेवोंके अंदर जो महाराजिक गण था, उनमें से कई लोग महाराष्ट्रमें आवसे थे अथवा यों कहना अनुचित नहीं होगा कि आज कलके मराठे देवजातीके महाराजिक ही हैं। अर्थात् गणदेवोंके महाराजिक आजकल मराठों के रूपमें दिखाई देते हैं यह बात सिद्ध कर रही है कि देवजाती मनुष्य जाती ही थी, परंतु वे अपने आपको "देव" कहलाते थे।

गण देवोंके अंदर मरुत् हैं, मरुत् शब्दके साथ संबंध रखनेवाले शब्द मर्त, मर्य, मर्त्य आदि हैं, ये मनुष्यवाचकही हैं। तथा वेद भाष्य करते हुए श्री० सायणाचार्यजीने भी लिखा है कि ये मरुत् पाहिले मनुष्य थे और पश्चात् वे देव बने; देखिये –

मर्यासो मारका मनुष्यरूपा वा मरुतः।
पूर्वं मनुष्याः सन्तः पश्चात् सुकृतविशेषेण
ह्यमरा आसन्॥ ऋग्वेद सायनभाष्य १०।७७।२

" मरुत् पहिले मनुष्यरूपही थे, परंतु सुकृत विशेष करनेसे वे देव बने " इस श्री० सायनाचार्य जी के कथन से पता लगता है कि मनुष्यों में से ही कई लोग मरुत् नामक गण देवों में समाविष्ट किये गये थे। मरने तक लडनेवाले मरुत् (मर+ उत्) कहलाते हैं । अर्थात् यह ' मरुत् ' नाम बडे शूरवीरोंका है । और इस जातीकी विशेष शूरवीरता के कारण ही इनको देवजातीने अपनाया होगा । अर्थात् ये पहिले भारत वर्षके रहने वाले होनेसे ' मनुष्य ' कहलाते थे, परंतु पीछे त्रिविष्टप (तिब्बत) में प्रविष्ट होनेके कारण इनका समावेश ' देव-जाती ' में होने लगा और देवोंके अधिकार इनको प्राप्त हुए । देवत्व प्राप्त करनेके कारण विशेष अधिकार प्राप्त होते थे, यह बात स्पष्टही है । इस समय भी यह भेद दिखाई देता है । जैसा किसी एक हिंदी मनुष्यको दो पुत्र पैदा हुए और उसमें एक का भारतवर्ष में और दूसरे का जन्म इंग्लैंदमें हुआ, तो जिसका जन्म इंग्लैंदमें हुआ है उसको केवल वहां जन्म लेनेके कारण ही कई अधिकार अंग्रेजोंके साम्राज्य में विशेष रीतिसे प्राप्त होते हैं । परंतु हिंदुस्थानमें जन्म लेनेवाले लडकेको वे अधिकार प्राप्त नहीं होते । इसी प्रकार जब यह मनुष्य जातीके वीर देवोंकी सेनामें भरती हुए, देव राज इंद्रके साथ रहनेवाली फौजमें सदा रहनेलगे, देवजातीके हितके लिये राक्षसोंके साथ युद्ध करने लगे, तथा देवस्थान अर्थात् तिब्बतमें रहने लगे और वहां ही इनको बालबच्चे पैदा होने लगे अर्थात् देवराज्यसे इनका हितसंबंध दृढ हो चुका तब इनको " देव " नाम प्राप्त हुआ ।

इस समय भी भारतवर्षियों का दर्जा राष्ट्रसंघ परिषद् में संमिलित होने योग्य समझा गया है, इसका कारण इतना ही है कि यूरोपके गत युद्धमें भारतवर्षीय लोग यूरोप में गये और अंग्रेजों के पक्षमें लढे । इसी प्रकार देवोंके पक्षके साथ रहने और देवोंके शत्रुओंके साथ लडनेके कारण बहुत प्राचीन समयमें जो भारतीय मनुष्य देव-जातीमें प्रविष्ट होचुके थे, उनका नाम मरुत् है और ये गणदेव हैं अर्थात् संघशः रहा करते थे ।

गणस्त्रियां ।

गणदेवोंका परिवार अर्थात् स्त्री आदिके साथ रहना सहना और संतति आदि उत्पन्न करना, कुटुंबकी रीतिपर नहीं था । अर्थात् जिस प्रकार हमारे आजके व्यवहारमें एक

मनुष्य अपने स्वतंत्र घरमें रहता है, अपनी स्वतंत्र स्त्रीके साथ रहता है,अपने पुत्र उस अपनी स्त्रीमें उत्पन्न करता है तात्पर्य अपना अलग कुटुम्ब है ऐसा मान कर उसकी भलाई करनेका भार अपने सिरपर धर के सब व्यवहार करता है, उस प्रकार इन गणदेवोंका नहीं था । गण संस्थाके अनुसार रहनेका तात्पर्य यही है कि —

(१) न तो इनका कोई निजू घर होता है,
(२) न कोई अपनी अलग स्त्री होती है,
(३) न अलग संतान जिससे अपना कुल चल सके,
(४) न कोई खानदानी जायदाद होती है जिस का इन को अहंकार हो सके,
(५) ये सभी समान अधिकार रखनेवाले होते हैं, न किसीका अधिकार अधिक होता है न किसीका कम,
(६) इनका भोजन रहना और सहना सब इकट्ठा और सबका सांजा होता है,
(७) जो कोई जायदाद होगी उस पर सबका समान अधिकार होता है,
(८) जो कार्य करना हो वह सब मिलकर करते हैं, अर्थात पूर्णतया सांघिक जीवन (Sociel or communal life) व्यतीत करनेकी प्रथा इन गणदेवोंमे थी ।

अपने आजकलके जीवन व्यवहारमें और इनके जीवन व्यवहारमें यह भेद है, यह बात सबसे प्रथम पाठकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये । हमारा इस समयका जीवन " कौटुंबिक " (Family life) जीवन है, और इनका " संघरूप " (communal life) जीवन था । यदि इनके रीतिरिवाज पाठकोंके ध्यानमें ठीक प्रकार नहीं आवेंगे, तो उनके इतिहासकी कई बातें समझमें आना कठिन होगा, इस लिये देव जातीका रहना सहना तथा गण देवोंका रहना सहना ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके लिये उक्त सब बातोंको ठीक प्रकार समझना अत्यंत आवश्यक है । गण देवोंके संघमय जीवन का विचार करनेके लिये उनकी गणस्त्रियोंका विचार करना आवश्यक है क्यों कि इससे उनके स्त्री संबंधका ठीक ठीक ज्ञान होगा । यद्यपि थोडेसे लोग आजन्म ब्रह्मचारी रह सकते हैं, तथापि समाजके संपूर्ण लोग पूर्ण ब्रह्मचर्यसे नहीं रह सकते । इस कारण समाजकी सुस्थिति के लिये पुरुषोंके साथ स्त्रियोंकी योजना की जाती है ।

पांच पद्धतियाँ ।

यह स्त्रियोंकी योजना कई प्रकारोंसे की जाती है,—

(१) गण- स्त्री–पद्धति,
(२) सहोदर–स्त्री-पद्धति,
(३) नियोग-पद्धति,
(४) अस्थिर विवाह–पद्धति और
(५) स्थिर विवाह–पद्धति ।

इस समय हमारे भारतवासियोंमें अर्थात् हिंदुओंकी उच्च जातियोंमें "स्थिरविवाह पद्धति" प्रचलित है। स्थिर विवाह पद्धति वह होती है कि जिसमें एकवार विवाह होनेपर आजन्म वह विवाह-बंधन स्थिर रहता है अर्थात् दोनोंमें से एकका मृत्यु होनेतक वह विवाह बंधन रहता है और किसीभी कारण उसमें किसी प्रकार भी शिथिलता नहीं हो सकती।

" अस्थिर- विवाह -पद्धति " यूरोप अमरिका आदि देशोंमें तथा मुसलमान राष्ट्रोंमें प्रचलित है । इस पद्धतिकी विशेषता यह है, कि पतिपत्नीके संबंधका नाता किसी समय टूटभी जाता है । राजाके अधिकारियोंके सन्मुख जाकर हम अपना विवाह-बंधन आजसे तोडना चाहते हैं ऐसा कहनेसे वे विवाहित स्त्रीपुरुष विवाह बंधनसे रहित हो जाते हैं । परंतु पूर्वोक्त " स्थिर विवाह संस्था " में यह आजादी नहीं है । सनातन वैदिक धर्मकी विशेषता इस स्थिर विवाह पद्धतिमें ही है । अस्तु । अस्थिर विवाह पद्धति और स्थिर विवाह पद्धति इनमें परस्पर भेद यही है ।

तीसरी नियोग पद्धति है । इसमें नियत समयके लिये ही विवाह संबंध होता है । प्रायः यह समय दो या तीन सालतक रह सकता होगा, क्यों कि संतान उत्पत्ति तकही उसकी मर्यादा होती है । यदि संतान उत्पत्ति प्रथम वर्ष हुई तो प्रथम वर्षमें अथवा अधिक देरतक यह विवाह संबंध रह सकता है । और नियत समय समाप्त होते ही यह संबंध स्वयं टूट जाता है । यह पद्धति प्राचीन समय आर्योंमें थी, परंतु अब यह किसी भी देशमें प्रचलित नहीं है । और प्राचीन समयमें यह आपत्कालके समय उप-योगमें लाई जाती थी और सार्वत्रिक नहीं थी ।

" सहोदर-स्त्रीपद्धति " इसके पश्चात् देखने योग्य है । सगे भाई सहोदर कहलाते हैं । एक मातासे उत्पन्न भाई सहोदर कहलाते हैं और एक पितासे उत्पन्न हुए भाई सवीर्य भाई कहलाते हैं । इन सबकी सांजी एक स्त्री इस विवाह पद्धतिमें की जाती है । जैसी पांच पांडवोंकी एक स्त्री द्रौपदी थी । इस प्रकारके विवाह इस समयमें भी हिमालय की पहाडियोंकी कई जातियोंमें प्रचलित हैं । पांडवोंके समय भी हिमालयकी जातियोंमें ही प्रचलित थे और भारतवर्षमें कभी प्रचलित न थे । पांडवोंकी उत्पत्ति हिमालयकी पहाडियों में हुई थी और उनका बालपण वहां ही व्यतीत हुआ था इसलिये पांडवोंको भी उस प्रकारका सांजा विवाह करनेकी बुद्धि हुई अन्यथा स्थिर विवाह करनेवाले आर्योंमें इस प्रकारका सहोदर-स्त्री-पद्धतिका विवाह होना असंभवही था ।

पांडवोंके इस सहोदर-स्त्री पद्धतिके विवाह के विचारसे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि पांडव और कौरव पास पासके सापत्न भाई न थे । यदि इनमें किसी प्रकार का भाईपनका नाता होगा तो बहुतही दूर का होगा । यद्यपि महाभारतमें इनका सापत्न भाई होना लिखा है तथापि वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । क्यों कि भारतीय आर्योंमें इस प्रकार के सांजे विवाह करनेकी न प्राचीन कालमें प्रथा थी और न उसके पश्चात् प्रथा चलीथी । भारतीय आर्योंमें केवल पांडवोंका ही यह एक ऐसा सांजा विवाह हुआ है । इसीसे सिद्ध है कि वे किसी भिन्न प्रांतकी भिन्न जातिके, विशेषकर हिमालयकी किसी पहाडी जातीके थे । अस्तु इसका विशेष विचार हम आगे विवाह प्रकरणमें विशेष रीतिसे करेंगे । यहां केवल दिग्दर्शन मात्र किया है । अस्तु इस प्रकार यह अनेक भाईयोंमें एक ही स्त्री करनेकी प्रथा हिमालयमें इस समयमें भी है ।

इसके पश्चात् ' गणस्त्री पद्धति ' का विचार मन में आता है । यह गणोंके संपूर्ण पुरुषोंके लिये कुछ स्त्रियां रखी होती हैं । मान लें की मरुद्गण, अथवा महाराजिक गण की पुरुष संख्या पांचसौ या एक सहस्र है , तो उन सब पुरुषोंके लिये दो तीन सौ अथवा आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक भी स्त्रियें रखीं जाती थीं । इनका नाम गणस्त्री है। गणोंकी स्त्रियां, अर्थात् गणके सब पुरुषों के लिये रखी हुई स्त्रियां। इनका ही नाम ' गणिका, वारस्त्री ' है । गणिका गणकी स्त्री है और उसको ' वारस्त्री ' कहते हैं, क्यों कि ' वार ' शब्दका अर्थ भी 'गण, समूह' आदि होता है । ये शब्द ' समुदाय की स्त्री ' यही भाव बताते हैं ।

' वार ' शब्द का अर्थ " दिन, दिवस " ऐसा भी होता है इस अर्थको लेनेसे यह अर्थ होगा कि यह स्त्री कुछ गिनती के दिनों के लिये ही होती है। अर्थात् गणके एक एक पुरुष से निश्चय होता है कि यह स्त्री इतने दिन इसके साथ रहेगी, पश्चात् दूसरे के पास रहेगी। जिस प्रकार द्रौपदी दो मास बारह दिन तक एक एक पतिकी उपासना क्रमपूर्वक करती थी। तथापि द्रौपदी गणस्त्री नहीं थी, परंतु एक कुटुंबमें उत्पन्न सब भाईयों की स्त्री थी, केवल दिनोंकी गिनती के लिये ही यहां यह उदाहरण लिया है। अर्थात् गणिका, वारस्त्री, वारयोषिता, गणस्त्री आदि शब्द देवों की गण संस्था की रहने सहनेकी पद्धति बता रहे हैं।

इस समय ' गणिका ' आदि शब्द व्यभिचारिणी स्त्री के अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। परंतु गणस्त्रियों की संस्था जिस समय देवोंके राष्ट्रमें प्रचलित थी उस समय उसमें व्यभिचार की कल्पना भी नहीं थी।

ऋतुके समय मासमें नियत तिथियोंमें ही स्त्री संबंध करना, जिस स्त्रीके दिन किसी दूसरे गणके साथ नियत हो चुके हैं उस स्त्रीके साथ संबंध न करना, इत्यादि उनके ऐसे नियम थे कि जिनसे व्यभिचार का दोष उनमें उत्पन्न न होता था। परंतु आज कलकी गणिकाओंका व्यवहार उनसे बहुत ही भिन्न हुआ है। इसलिये आज कलकी गणिकाएं व्यभिचारिणी हैं और उस समय की गणस्त्रियां व्यभिचारिणी नहीं थी। इसके अतिरिक्त कुटुंबस्थिति प्रचारमें आनेके पश्चात् अर्थात् स्थिर विवाह प्रचलित होनेके पश्चात् जो व्यभिचार की कल्पना कुटुंबवाले लोगोंमें होती है, वह व्यभिचार की कल्पना ठीक उसी पैलूमें गणस्त्री व्यवहार, सहोदर स्त्री व्यवहार, नियोगव्यवहार, अस्थिर विवाह व्यवहार करनेवाले समाजोंमें उत्पन्न नहीं होती। देखिये हमारे अंदर ऐसा भाव होता है, कि यदि पराई स्त्री अपनेसे बडी हो तो उसे माता, अपने बराबर उमर वाली स्त्री अपनी बहिन और अपनेसे छोटी उमर वाली अपनी पुत्री मानना। यह भाव हमारे अंदर बडा उच्च और पवित्र समझा जाता है। परंतु यूरोपमें इसी उच्च भावपर सब लोग हंसी उडाते हैं। और कहते हैं कि यह विचार कैसा मलीन है !! ये यूरोपके लोग इस उच्च भाव को इतना उपहास करनेयोग्य इस लिये मानते हैं, कि वहां गांधर्व विवाह की पद्धति और अस्थिर विवाह पद्धति जारी है, इस कारण वे समझते हैं, कि अपना प्रेमसंबंध हरएक स्त्रीके साथ होना संभव है। जो लोग हरएक स्त्रीसे अपने

प्रेम संबंधकी संभावना को मानते होंगे, उनको पूर्वोक्त आर्य विचार क्योंकर उच्च प्रतीत होंगे? परंतु भारत वर्षमें स्थिर--विवाहपद्धति उच्चवर्णों में प्रचलित हुई है, भारतीयोंके विवाह बंधन मृत्युतक टूट नहीं सकते, एक बार विवाह होनेके पश्चात दूसरे स्त्रीके साथ उसका संबंध होना कठीन है, इस प्रकारकी दृढ भावना वाले उच्च लोगोंमें ही अपनी स्त्रीसे भिन्न दूसरे स्त्रीके विषयमें भोगेच्छा विरहित पूर्वोक्त उच्च भाव जागृत रह सकते हैं।

इतनी बात विस्तारसे यहां बताने की आवश्यकता यह है कि पाठकों के मनमें यह बात निश्चित हो जाय, की व्यभिचार विषयक घृणाकी कल्पना कौटुंबिक विवाहपद्धति शुरू होनेके पश्चात् ही उत्पन्न होना स्वाभाविक है, इससे पूर्व नहीं। गणस्त्री पद्धति जिस समय प्रचलित होगी, उस समय एक स्त्रीके साथ कुछ दिन संबंध हुआ, पश्चात् दूसरी स्त्रीसे संबंध होना ही है, आमरणान्त एक स्त्री से संतुष्ट रहनेकी उच्च कल्पना उनमें उत्पन्न होना ही असंभव है, अतः व्यभिचार के विषयमें जो घृणा जिस दर्जे तक हमारे अंदर इस समय है, वह गण स्त्री पद्धतिके दिनों में देवजातीके लोगोंमें उस समय उत्पन्न होना असंभव ही था।

अब यहां यह कहना है कि यह गण देवों की गणस्त्री की प्रथा उन गण देवोंके साथही भारतवर्षमें प्रचलित हुई और यहां आजकलकी गणिकाओंके विकृत रूपमें परिणत हुई। हमने इससे पूर्व बताया ही है कि " महा-राजिक " नामके गणदेव मध्य भारतमें आकर बसे और उनके देशका नाम महाराष्ट्र अर्थात् मराठा देश इस समय है। इसी प्रकार अन्यान्य गण देव अन्यान्य देशोंमे बसे थे। तथा उनके साथ उनकी गणस्त्रियां भी यहां आगई थीं। तात्पर्य इस समय की भारत वर्षकी गणिकाओंकी प्रथा प्राचीन गणदेवों की प्रथा है। इससे न केवल गणदेव मनुष्य सिद्ध होते हैं प्रत्युत सब देव जाती भी मनुष्यरूप ही सिद्ध होती है।

इतने विचारसे यह सिद्ध हुआ कि गणदेव मनुष्य ही थे और देवजाती भी मनुष्य जाती ही थी और केवल उनका नाम ही " देव " था। अब इन गणदेवोंके अंदर की अप्सराओंका विचार करेंगे—

अप्सरा ।

पूर्वस्थानमें देवयोनियों का परिगणन किया है, उनमें " अप्सरस् " शब्द आया है। ये ही अप्सराएं हैं। देवयोनी मिश्र जातीकी संतति थी इस विषयमें इस से पूर्व लिखा जा चुका है । देवजातीका पुरुष और अन्य जातीकी स्त्री इनसे उत्पन्न हुई देव योनी जातियें थीं। इन में अप्सराएं भी एक हैं। देव जाती के पुरुषोंका संबंध किसी सुंदर स्त्रियोंसे हुआ और उस संबंधसे इन सुंदर स्त्रियों-की उत्पत्ति हुई। इस जातीमें जो पुरुष हुए होंगे उनके नाम विद्याधर आदि अनेक हैं। और जो स्त्रियां थी उनका नाम अप्सरा हुआ था। ये अप्सराएं गणदेवोंके विलास के लिये तथा अन्यान्य देवोंके विलास के लिये रखीं गई थीं। तथा नाचना, गाना, आदि व्यवसाय इनके सुपुर्द किया गया था। इंद्रादि देवोंके दर्बारोंमें अप्सराओंका नाच होता था, इस नाचके वर्णन पुराणों और इतिहासोंमें भी बहुत हैं। इंद्रकी सभामें पुरूरवा राजा गया था उसके सन्मान के लिये उर्वशी का नाच वहां किया गया था। इसी प्रकार विश्वामित्र भी किसी अप्सराके पीछे इंद्रसभा तक पहुंचा था। अर्जुन शस्त्रास्त्र सीखने के लिये इंद्रके पास जाकर कई वर्ष रहा था उस समय उर्वशीका मन उस वीर अर्जुन पर मोहित हुआ, परंतु अर्जुनने पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करनेका निश्चय किया था, इस लिये उर्वशी की इच्छा सफल नहीं होसकी, इत्यादि अनेक कथाएं महाभारतादि ग्रंथोंमें हैं; उनसे पता लगता है कि ये सुंदर अप्सराएं स्वर्गकी कामिनियां थीं और इनका भोगसंबंध देवों और मानवों के साथ समानतया रहता था।

यह बात महशूर है कि देवराष्ट्रमें — स्वर्गमें अर्थात् तिब्बतमें—जब सुकृत करने वाले मनुष्य जाकर रहते थे तब उनको मनमानी अप्सराएं मिल जातीथीं। हम आगे आकर बताएंगे कि यज्ञसे स्वर्ग प्राप्ति होने की असलमें कल्पना क्या है और किस प्रकार उन यज्ञकर्ता मनुष्यों को स्वर्गमें स्थान मिलता था। पाठक जब वह वर्णन पढेंगे तब उनको उस समयकी वास्तविक अवस्थाकी कल्पना ठीक आजायगी। परंतु यहां अप्सराओंकी प्राप्ति की कल्पनाही देखना है।

विशेष कर्म करनेपर भारत वर्षके मनुष्य तिब्बत में रहने योग्य समझे जाते थे, अर्थात् उनको स्वर्गीय नागरिकत्वके अधिकार (Rights of citizenship) प्राप्त होते थे,

और उन अधिकारों में स्वर्गीय अप्सराओंसे संबंध करना भी एक अधिकार था!!!

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देवोंके राष्ट्रमें स्त्री विषयक स्वातंत्र्य अधिक था। वार योषिताओंका संबंध न करनेवाले पुरुष भारत वर्षमें पवित्र गिने जातेथे और अब भी शुद्ध गिने जाते हैं; परंतु देवलोगोंके देशमें गणिकाओंसे अर्थात् अप्सराओंसे संबंध रखना प्रतिष्ठाका और विशेष सभ्यताका संबंध समझा जाता था। !! अप्सराओंसे संबंध न करने वाला देवोंमें एक भी देव नहीं दिखाई देता, इतनाही नहीं प्रत्युत भारत वर्षीय लोग जो देवत्वके अधिकार पाकर देवोंके देशमें निवास करनेके लिये जातेथे, उनको भी देवोंकी सभ्यता के अनुकूल अप्सराओंसे विहार करने और देवोंकी सभामें होनेवाले अप्सराओंके नाचके समय वहां उपस्थिति रखनी पडती थी। इस विषयमें देवसभाओंके वर्णन महाभारतमें देखिये। जिस प्रकार यूरोपमें मद्य न पीनेवाले को भी होटलोंमें मद्यका मूल्य भोजन के साथ देनाही पडता है, उसी प्रकार देवोंके देशके प्रतिष्ठित निवासियोंको अप्सराओंसे संबंध करना पडता था। कई लोग भारतवर्षमें यज्ञ इसी लिये करतेथे, कि हमें देवोंके देशमें रहनेका स्थान मिले और हम स्वर्गीय अप्सराओंसे संबंध करें। इससे सिद्ध होता है, कि देवोंकी सभ्यतामें अप्सरादिकों का संबंध हीन दृष्टिसे देखा नहीं जाता था।

राजकारणमें स्त्रियां।

भारत वर्षके कई सम्राट् स्वर्गका राज्य प्राप्त करने अर्थात् इंद्रपद को प्राप्त करनेका यत्न करते थे। उस समय इन अप्सराओंका प्रयोग इंद्र करता था। अर्थात् इन सुंदर अप्सराओंको भारतवर्षीय राजाओंके पास भेंट रूपमें भेजता था। ये स्वर्गीय कन्याएं यहां भारतीय राजाओंके पास आती थीं और उनको लुभाकर देवराज्य पादाक्रांत करने के विचार से उनको निवृत्त करती थीं। इस प्रकार विश्वामित्रादि भारतवर्षीय सम्राटोंपर स्वर्गकन्याओंका प्रयोग किया गया था। ये कथाएं सब लोग जानते हैं और इतिहासों और पुराणोंमें सुप्रसिद्ध हैं। स्वर्गकी स्त्रियोंका भारतवर्षमें आना, भारतवर्षीय राजाओंके पास रहना और स्वर्गराज्यके हितके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करना, और इसप्रकार आत्मसमर्पण के कार्यमें भारतीय राजाओंसे संतानोत्पत्ति करनी, इत्यादि बातें सिद्ध करती हैं, कि स्वर्गलोक जिसका नाम है, वह आजकलका तिब्बत है, वहां के देव

मानवोंकीही देवनाम धारण करनेवाली जाती थी, तथा उनकी अप्सराएं आदि भी मनुष्योंके समान ही रूपवती स्त्रियें थीं।

जिस प्रकार अप्सराएं सुंदर थीं उस प्रकार उस समय भारतवर्षमें भी सुरूप स्त्रियें नहीं थीं ऐसा माननेका कोई कारण नहीं है। क्यों कि जिस प्रकार देवराज्यकी अप्सराओं के रूपके लिये भारतीय लोग मोहित होते थे, उसीप्रकार त्रिविष्टप के देव भी भारतीय आर्य स्त्रियोंके रूपसे मोहित होते थे। इंद्र स्वयं गौतम स्त्री अहल्यासे मोहित हुआ था, अश्विनी कुमार च्यवन स्त्री सुकन्याको देख कर मोहित हुए थे, दमयंतीका रूप देखकर मोहित हुए इंद्रादिदेव उस दमयंतीके स्वयंवर में आगये थे और दमयंती नलराजा के साथ शादी न करे इस विषयका प्रयत्न कर रहे थे, इत्यादि सब मनुष्य वत् चेष्टायें देखकर हरएक पाठक के मन में यह बात स्थिर हो सकती है, कि तिब्बतमें प्राचीन कालमें जो मानव जाती रहती थी उसका नाम " देव जाती " था। परंतु वे मनुष्य ही थे। यदि यह सत्य बात सबके मनमें इतिहासिक रूपमें ठीक ठीक बैठ जाय, तो देवताविषयक मोह सबसे पहिले उड जायगा। जो अनेक देवताओंकी कथाएं हैं और जो नामसादृश्य से ही केवल जगद्रचना करने वाली देवताओं की समझी जाती हैं, और इसकारण देवजातीके मनुष्योंके पाप जगद्रचना करने वाले देवोंके सिरपर मढे जाते हैं, वास्तवमें देवजातीके मनुष्य और जगद्रचयिता देव इनमें केवल नाम सादृश्यके सिवाय और कुछ भी समानता नहीं है। यदि इतनीसी सीधी इतिहासिक बात पाठक समझ लेंगे, तो पौराणिक कथाओंके कई भ्रम दूर होसकते हैं।

" इंद्र " शब्दके अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, मन, जगद्रचना करनेवाले देवोंका अधिपति, तिब्बत निवासी देव जातीका सम्राट्, किसी जातीका मुखिया आदि होते हैं। इसी प्रकार कई अन्य देव वाचक शब्दोंके अर्थ भी होते हैं। इसलिये किसी भी कथामें देव वाचक शब्द आ भी गया, तो वहां देखना चाहिये कि कथा प्रसंग किसका संबंध बता रहा है। इससे सब बातें ठीक प्रकार खुल सकती हैं। इस प्रकार देखनेसे देव जातीके मानवोंके पाप जगद्रचयिता देवोंके सिरपर कभी नहीं बैठ सकेंगे।

पुराण और इतिहासके लेखकोंने आख्यायिका लिखनेके समय विभागपूर्वक आख्यायिकाओंका लेखन नहीं किया है। इसलिये एक नामकी सब कथाएं इकट्ठी दिखाई

देती हैं। इस विषयको पुनः देखिये—

शिव =	कल्याणरूप	होनेसे	परब्रह्म	का	नाम।
" =	"	"	परमेश्वर	"	"
" =	"	"	जीवात्मा	"	"
" =	"	"	शिवसंकल्प मन	"	"

" = मानस सरोवर तथा कैलासके तिब्बतके भागका राजा जो भूत नामक मानव जातीपर राज्य करता था।

" = शिवाजी छत्रपती (महाराष्ट्रराज्यके संस्थापक)

ये सब नाम सदृश होनेपर भी एकके वाचक नहीं हैं और इस कारण इन सबकी कथाएं गोल माल करके इकट्ठीं रखनीं नहीं चाहिए। छत्रपती शिवाजी महाराज बिलकुल आधुनिक राजा होनेके कारण पुराणोंसे अलग ही हैं, परंतु शिवाजी की संपूर्ण कथाओंमें " शिव " नामके कितने राजा और कितने मानवोंकी कथाएं संमिलित हुई हैं, यह एक देखने वाली ही बात है। अस्तु। यहां इससे इतना ही बताना है कि तिब्बत की देव-नामधारी मानव जाती की कई कथाएं इतिहास होनेके कारण पुराणों और इतिहासमें संमिलित हुई हैं। ये सब बातें सिद्ध कर रहीं हैं, कि तिब्बत निवासी मानव जातीका नाम " देव " था, परंतु वे मनुष्यही थे और इसी कारण भारतीय आर्योंका स्वर्गीय देव जातीके स्त्रियोंसे शरीर संबंध होता था और स्वर्गीय देवोंका भारतीय आर्य जातीके स्त्रियोंसे भी संबंध होता था।

तिब्बत शीत प्रधान देश होनेके कारण, विशेषतः हिमाचल की पहाडियां सदा शीत प्रधान होनेके कारण वहां के स्त्री पुरुष गौर वर्ण और सुंदर होते थे और इस समय में भी हैं। तिब्बत के लोग इतने गौर वर्ण नहीं हैं जितने हिमालयकी पहाडियोंमें रहने वाले हैं और इसीलिये हिमालयकी पहाडियोंमें संकीर्ण जातिमें उत्पन्न हुई अप्सराएं तिब्बत के देवजातीके वीरोंको और भारतीय वीरोंको लुभानेके योग्य सुंदर थी और इसी कारण उनका प्रवेश स्वर्गीय इंद्र सभामें तथा भारतीय राजाओंके अंतःपुरमें हुआ था।

असुर स्त्रियाँ।

जिस प्रकार देवांगनाएं तथा भारतीय आर्य स्त्रियां भी सौंदर्य में एक दूसरे से कम न थीं, उसी प्रकार असुर स्त्रियां तथा राक्षस स्त्रियां भी सौंदर्यमें कम न थीं। आजकल चित्रकार यद्यपि असुरोंकी शकलें बेढंगी बनाते हैं, तथापि इतिहासकी कथाएं देखनेसे पता लगता है कि असुरस्त्रियें भी अतिसुंदर थीं। पांडवोंके घरमें कुंतीपुत्र भीमसेन का विवाह हिडिंबा राक्षसीके साथ हुआ था। महाभारत देखने से पता चलता है, कि इस विवाह के लिये कुंती, धर्मराज, अर्जुन आदिकों की पूर्ण संमति थी। यदि हिडिंबा राक्षसी की शकल बिलकुल कुरूप और बेढंगी होती, तो कमसे कम कुंतीकी संमति मिलना संभव नहीं था। क्योंकि भीम उत्तम गौर वर्ण और सुंदर था। अपने सुं[illegible] और गौर वर्ण पुत्रका विवाह कुरूप कृष्णवर्ण विजातीय स्त्रीके साथ करने के लिये संमति कोई भी माता नहीं दे सकती। इस से सिद्ध है, कि हिडिंबा सुंदर थी। वास्तव में " असुर " जाती आजकलकी पारसीयोंके समान ही गौरवर्ण और रूपादि गुणोंसे युक्त जाती थी। पारसीलोग " असुरोपासक " हैं, सब असुरोपासक जातियां पारसियोंके समान ही थीं। असुरोपासक लोक असुर नामसे ही प्रसिद्ध थे। आजकल " असीरिया " देश के आसपास की जातीयां भी असुर नाम वाली थीं।

बाणासुर की कन्या यादवोंके घरमें ब्याही थी। इत्यादि सब कथाएं देखने और विचारनेसे पता चलता है कि असुर जातीकी स्त्रियां भी आर्योंके घरमें विवाह होने योग्य सुंदर थी। यदि असुर जातीके स्त्री पुरुष आर्योंके समान ही सुंदर और मनुष्यवत् देह धारी थे तो देवोंके संबंध में शंका ही क्या हो सकती है? इस दृष्टीसे विचार करने पर भी पता चलता है कि असुर सुर ये सब हमारे जैसे मानव ही थे और उन का परस्पर शरीर संबंध भी होताथा।

तीन जातियाँ।

महाभारत कालमें अर्थात् कौरव पांडवोंके कालमें इस भूमंडलपर तीन जातियां थीं। भारत वर्षमें आर्य जाती, त्रिविष्टप (तिब्बत) में देवजाती, और तिब्बत के पश्चिम भू-

भागमें असुर जाती थी । हरएक जातीमें अनेक उपजातियोंका समावेश होता था उसका विचार पीछे से होगा । पूर्व स्थानमें देवजातीकी उपजातियोंका विचार किया ही है । इसी प्रकार असुरजातियोंका भी विचार आगे किया जायगा । यहां इतनाही बताना है कि इन तीन जातियों के परस्पर युद्ध होते थे, परस्पर शादियां होती थीं, परस्पर मित्रता और द्वेष आदि थे, इसलिये इन सबको मनुष्य ही मानना चाहिये । इस समय हिंदु, जापानी, रूसी, युरोपीयन ये जैसे देश विशेषोंके रहीवासी सब मनुष्यही हैं उसी प्रकार प्राचीन समयमें भारतमें आर्य, तिब्बतमें देव और ईरान आदि देशोंमें असुर नाम धारी मनुष्य ही रहते थे । इस कारण उनमें परस्पर विवाह, परस्पर द्वेष, परस्पर मित्रता आदि आजकल के समान ही होतेथे । इससे भी सिद्ध होता है कि ये सब जातीके मनुष्य ही थे और किसी प्रकार दूसरे प्राणी न थे ।

तीन जातियोंकी संस्कृति ।

असुरोंको बडे भाई कहते हैं और देवोंको छोटे भाई कहते हैं इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि तिब्बतवासी देवोंके पहिलेही असुर जातीका उदय हुआ था । तिब्बत की पश्चिम दिशामें छोटे मोटे अनेक देशोंमें असुर जातीका निवास था । और उस असुर जातीका उदय देवजातीके उदयके पूर्व हुआ था । असुर जातीके राज्य भूमंडलपर चारों दिशाओं में हो चुकेथे और सब भोग उनके अधिकार क्षेत्रमें आ चुके थे । इसके पश्चात् देवजातीका उदय शुरू हुआ था । इसी कारण कहा जाता है कि असुर बडे और सुर छोटे हैं ।

आर्य जातीके उदयका समय तो देवजातीके उदयके पश्चात् का है । महाभारतका समय आर्य जातीके अभ्युदयकी पूर्णतावस्थाका है, क्यों कि भारतीय युद्ध के पश्चात् आर्य जातीकी गिरावट शुरू हुई थी । इस लिये भारतीय युद्धके समय आर्य जाती अभ्युदय के परमोच्च शिखरपर विराजमान थी । भारतीय युद्धका काल आजसे पांच सहस्र वर्ष पूर्व था और यह आर्यों के अभ्युदयका परमोच्च काल समझिये । इस समय भी देव जाती के अंदरका पराक्रम का बल वैसा नहीं दीखता है, जैसा पहिले दिखाई देता था । असुरों के साथ भी देवोंके युद्ध करीब बंद ही हुए थे । निवात कवचादि राक्षसों के साथ इन्द्र स्वयं युद्ध करने नहीं गया था, परंतु आर्य वीर अर्जुनने वह कार्य इंद्रके लिये किया था । भूत नाथ सम्राट् श्रीशंकर इनकी अर्जुन के साथ वाले युद्धमें करीब

करीब बराबरी हुई थी । तथा खांडव वन के दाह के समय अर्जुन ने इंद्रकी सेनाका पूर्ण पराभव ही किया था । इस प्रकार उस समय की देवजाती की अवस्था देखनेसे पता लगता है, कि तिब्बत निवासी देव जाती भी करीब अवनतिके मार्ग पर जाचुकी थी। असुर आदि जातियां इस से पूर्व गिर चुकी होंगी । हरएक जातीके अभ्युदय और अवनतीके लिये यदि चार पांच सहस्र वर्षों का समय लगता होगा, तो इसमें संदेह नहीं हो सकता कि आर्य, देव और असुर जातीयों के उदयास्तका इतिहास कमसे कम पंद्रह वीस हजार वर्षों का इतिहास है । असुरोंके पीछे देवजातीका विजय का समय था, क्यों कि देवजातीने प्रायः असुर जातीका पराभव करके उनको भगाया था, इससे भी सिद्ध है, कि असुर सभ्यताके पश्चात् की देव सभ्यता है और इससे पूर्व बतायाही है कि देवोंसे ज्ञान, शस्त्र, अस्त्र आदि प्राप्त करके आर्य बढ रहे थे, इस लिये देवजाति के पश्चात् आर्योंके विजयका समय है । आर्यों के विजयका समय विक्रम संवतके पूर्व पांच सहस्र वर्ष था यह भारतीय युद्ध के समय से निश्चित है, इससे पूर्व देवजातीके और उससे भी पूर्व असुर जातीके लोगोंका अभ्युदयका समय है । इससे अनुमानसे ज्ञात हो सकता है कि असुरों के विजय का काल कौनसा होगा । अस्तु । इससे पता लगसकता है कि जिस कारण असुरोपासक पारसी तथा ईराणके आसपासकी जातियां असुर शब्दसे ज्ञात होती हैं और उनका अंतर्भाव मानवजातीमें ही है, उसी कारण उनसे युद्ध करनेवाली और भारतीय आर्योंकी सहायता करनेवाली देवजाती के लोगभी मानवों के ही समजने उचित हैं । देवोंके शत्रुओं और मित्रोंका विचार करनेसे हमें यहां पता लगा, कि देवभी उनके शत्रुओं और मित्रोंके समान ही मनुष्य देहधारी थे । अब पुनः गणदेवों की एक दो और बातोंका विचार करेंगे—

गणराज ।

देवोंके गण थे और हरएक गणका एक एक महाजन होता था इसका नाम " गणराज " होताथा । इस गणराज या गणपतिके आधीन सब गण रहते थे । इसकी आज्ञाके विना कोई गण कुछ कार्य कर नहीं सकता था । जो गण इसकी आज्ञामें यथायोग्य रीतिसे रहतेथे उनके सब कार्योंमें यह गणराज सहायता करताथा और उनका जो विरोधी होताथा उनके कार्योंमें यह गणराज अनेक विघ्न उत्पन्न करता था । आजकल भी

यही दिखाई देता है कि मुखिया के विरुद्ध होनेसे विघ्न होते और उसके अनुकूल होनेसे सब विघ्न हट जाते हैं। इस लिये इस गणराज का नाम विघ्न–कर्ता और विघ्न-हर्ता भी है।

हरएक कार्यमें इसका सत्कार प्रथम करना आवश्यक होता था अन्यथा किसीका कार्य सफल होना कठिन हो जाता था। इसी लिये गणराज का सत्कार सबसे प्रथम होता था, आजकल भी महाजन का सत्कार हरएक कार्यमें प्रथम करना और उसके लिये भी अग्रस्थान देना आवश्यक होता है वही बात उस समय होती थी।

जिस प्रकार हरएक गणका एक गणराज होता था उसी प्रकार अनेक गणोंका एक गणनाथ होता था। इसका नाम " गणोंका गणपति " अर्थात् गणोंके समूहोंका पति होता था। इस मुख्य गणनायक के आधीन गणराज रहते थे और अपने अपने गणोंके द्वारा इष्ट कार्य करते थे। जिस प्रकार फौजमें छोटे और बडे अधिकारी होते हैं उसी प्रकार यह गणराज संस्था देवोंमें थी। फौजी व्यवस्था केवल फौज में ही दिखाई देती है, परंतु इस गणराज संस्थामें जो यह गणोंकी व्यवस्था है वह सब कार्योंके लिये होती थी और इस कारण गणोंके हिताहित के सब कार्य फौजी व्यवस्था के साथ उत्तम प्रकार होते और किसीको भी किसी प्रकार विशेष कष्ट नहीं होते थे।

आजकल यूरोपके फौजमें सेनाविभागों के जो नियम दिखाई देते हैं और जो सुव्यवस्था दिखाई देती है उसका मूल इन देवोंकी गणराज संस्थामें पाठक देख सकते हैं।

इंद्रके मरुद्गण इतिहास पुराणों में सुप्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार महादेव के भूतगण भी प्रसिद्ध हैं। प्रायः ये दोनों गण सेनाओंके ही गण थे। भूतगणों का स्थान इस समय का " भूतान " किंवा भूतस्थान है और मरुद्गणों का स्थान तिब्बतमें किसी स्थान-पर अनुमानित किया जा सकता है।

इस प्रकार गणराज संस्थाका विचार करनेसे पता लगता है कि ये देवगण हमारे जैसे मानव ही थे, परंतु इन की उत्पति देवजातीसे होनेके कारण इनका नाम " देव" हुआ था। इतने विचार से सिद्ध हुआ कि देवजाती भी एक मनुष्य जाती ही थी। अब अन्य जातियोंका विचार करनेके पूर्व नाग जातीका विचार करेंगे क्यों कि इसका विशेष संबंध आगे आने वाला है।

नागलोक ।

(यह नाग विषयका लेख इतिहाससंशोधक श्री. वि. का. राजवाडे जी का लिखा है)

इस लेखमें "नाग लोक" किस प्रदेशका नाम है इसका विचार करना है ।

श्री हर्षकृत नागानंद नाटकमें निम्न लिखित आशयका वाक्य है —"हिमालयके समीपके प्रांतमें राज्य करनेवाले जीमूतकेतु नामक विद्याधर का पुत्र जीमूतवाहन था । यह राजा मलयपर्वत के गोकर्णक्षेत्रके समीप रहनेवाले शंखपाल कुलोत्पन्न शंखचूड नामक नागका संरक्षण करनेके लिये तैयार था ।" (नागानंद अंक ४) अर्थात् गोकर्णक्षेत्र तथा मलय पर्वत पाताल देशमें अथवा पाताल देशके समीप पश्चिमसमुद्र के पास थे और पातालमें नाग लोग रहते थे । इसमें " विद्याधर " नाम पूर्वोक्त देव योनी जातीका है वह देखने योग्य है । तथा और देखिये—

तदापाते च पातालं त्रासनिर्जाररराजिलं ।
कृत्स्नमेकपदे नष्टं नागलोकममन्यत ॥

कथासरित्सागर, तरंग २२

इसमें "नागलोक नष्ट होने के समान हुआ" यह वर्णन है । यह नाग लोक नागोंका प्रदेशही है । इस प्रकार नाग लोक का नाश होते ही शंखचूड नाग रसातलमें गया यह वर्णन निम्न पंक्तिमें देखने योग्य है —

विसृष्टस्तेन च ययौ शंखचूडो रसातलम् ।

कथासरित्सागर. तरंग २२

अर्थात् रसातल भी एक प्रदेश था और वह पाताल देशके समीप था । और गोकर्ण तथा मलय पर्वत पातालमें, रसातलमें अथवा उनके समीप थे । यह बात नागानंद नाटक और कथासरित्सागर ग्रंथोंसे सिद्ध होती है । नागानंद नाटक का रचयिता श्रीहर्षकवि शक ५२० अर्थात् संवत् ६६५ में जीवित था, इस लिये हम कह सकते हैं कि इस संवत् में पाताल और रसातल शब्दोंसे उक्त प्रांतोंकाही ज्ञान होता था । इन पाताल और

रसातलमें नागलोग रहते थे यह उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध है ।

नागानंद नाटक के पंचम अंकमें नायक के भाषणमें निम्न लिखित वाक्य है —

नायकः– फणिपते शंखचूड ! किमेवमाविग्नोऽसि ? किमु स्थानमिद-
मागमनस्य ?—

स्वशरीरेण शरीरं तार्क्ष्यात्परिरक्षितं त्वदीयमिदम् ।
नेतुं युक्तं भवता पातालतलादपि तलं तत् ॥ १९ ॥

(नागानंद अं. ५)

अर्थ– हे शंखचूड ! क्यों घबराते हो ? यहां आगमनका प्रयोजन क्या है ? तार्क्ष्य (गरुड) से मैंने तेरा संरक्षण किया है, अब तू पातालसे तलमें जा, यही तेरे लिये योग्य है ।

इससे स्पष्ट हो रहा है, कि " पाताल " देश के पास " तल " नामक एक और प्रांत है । श्रीहर्षकविके इस वचनसे स्पष्ट हो रहा है कि गोकर्णक्षेत्र, मलयपर्वत, पाताल और तल ये सब समीप के स्थान और प्रदेश थे । गोकर्णक्षेत्र इस समय भी विद्यमान है, इसलिये हम कह सकते हैं कि इसी क्षेत्र के पास ये सब प्रांत प्राचीन कालमें इन नामोंसे प्रसिद्ध थे ।

नागलोगोंका राजा वासुकी था और उसकी राजधानी भोगवती थी । महाभारत उद्योग पर्व अ. १०९ में कहा है कि " तक्षक और ऐरावत इन नागोंद्वारा रक्षित और वासुकी नागद्वारा पालित भोगवती नगरी ब्रह्मावर्तसे दूर दक्षिण दिशामें है । तथा इस भोगवती नगरीकी दिशासे ही आगे रावणका राज्य है । " तात्पर्य भोगवती, पाताल, तल, गोकर्ण, मलयपर्वत ये भूप्रदेश पश्चिम समुद्र (अरबी समुद्र) के समीप के भारतीय भूप्रदेश के ही नाम हैं, देखिये—

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च ॥

म. भारत उद्योग १०९ । १९–२०

" इस (दक्षिण दिशामें) भोगवती नामक नगरी है जिसका पालन वासुकी करता है और तक्षक, ऐरावत ये नाग जिसका संरक्षण कर रहे हैं । "

अब विष्णु पुराणके निम्न लिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय ।
इंद्रद्वीपः कशेरूमांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥ ६ ॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गांधर्वस्त्वथ वारुणः ।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥ ७ ॥

विष्णु पुराण अंश. २ अ० ३

" भारत वर्षके नौ भाग हैं उनको सुनो–इंद्रद्वीप, कशेरूमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान् , नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व, वारुण और यह समुद्रसे वेष्टित नौवां है । "

इससे स्पष्ट है कि नागद्वीप और वारुणद्वीप भारत वर्षके नौ विभागोंमेंसे दो विभाग हैं । इनमें नागद्वीप ही नागलोक है अर्थात् नाग नामक मनुष्योंका निवास स्थान है और जो ब्रह्मावर्त के बहुत दूर दक्षिण दिशामें है तथा जिसकी राजधानी भोगवती है और जो गोकर्ण, मलय, पाताल और तल प्रांतोंके मध्यमें किसी स्थानपर है । इसी रीतिसे वारुण द्वीपका पता चलाना चाहिये–

इयं दिग्दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ॥ १ ॥
यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये ।
कश्यपो भगवान्देवो वरुणं स्माभ्यषेचयत् ॥ २ ॥

म. भारत उद्योग. अ. ११०

" यह (दक्षिण) दिशा गोपति वरुण राजा की प्रिय है । जलचरोंका यह राज्य है और समुद्र की रक्षाके लिये ये नियत हैं । भगवान कश्यप ऋषिने वरुण को यहां राज्याभिषेक किया था । "

इससे सिद्ध होता है कि वरुणलोक भी समुद्रके पासके एक प्रांतका नाम था और वहां का राजा वरुण कहलाता था । महाभारत उद्योग पर्वमें कहा है कि नारद मातलि को वारुण द्वीपकी वारुण्य नगरीमें से गुजर कर नागलोक में ले गये थे–

वरुणेनाऽभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ।

महाभारत उद्योग० अ० ९८

" वरुण की आज्ञा प्राप्त कर (नारद और मातली) नाग लोकमें विचरने लगे । " मातली अपने देशसे अपनी कन्याके लिये सुयोग्य वर ढूंढनेके लिये नाग लोक तक गया था । देखिये —

कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम् ।

महाभारत उद्योग अ०९७

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन्वसुधातलम् ।

महाभारत उद्योग अ०९८

अर्थात् कन्याके लिये योग्य वर देखनेके लिये मातली वसुधा तल, महीतल, रसातल, वरुण लोक, नागलोग आदि प्रांतोंमें भ्रमण कर रहा था। इसके भ्रमण वृत्तांतसे स्पष्ट हो रहा है कि वारुणद्वीप के पास ही नागलोक अर्थात् नागद्वीप किंवा नागलोगों का प्रांत था। अर्थात् वारुण्य लोक और नाग लोक (किंवा वारुण प्रांत और नाग प्रांत) महीतल अथवा वसुधातल नामक भारतवर्षके भूभागमें ही प्राचीन कालमें समझे जाते थे। और उस में वरुण लोक नागलोक की उत्तर दिशामें तथा नागलोक वरुण लोक की दक्षिण दिशामें था। तथा दोनों देशोंको पश्चिम समुद्र स्पर्श कर रहा था। अतः स्थानस्थानपर कहा है कि वरुण जलका अधिपति है। अर्थात् प्राचीन देवराज्यके शासनमें वरुण समुद्र विभागका अधीश था। इसी लिये उक्त श्लोकोंमें कहा है कि "वरुण की आज्ञा लेकर मातलि वरुणदेश और नागदेश में घूम रहा था।" अधिपतिकी आज्ञाके विना विदेशमें भ्रमण अशक्य होता है। आजकलभी विदेशमें जानेके लिये सरकार आज्ञा (Pass port) लेनी ही पडती है। वही बात प्राचीन कालमें भी थी।

इस विवरण से स्पष्ट हो रहा है कि वरुणदेश, नागदेश, (वरुण लोक, नागलोक) पाताल, तल ये देश पश्चिम समुद्रके समीपके हैं और दूसरी ओर इन देशोंके गोकर्ण क्षेत्र और मलय पर्वत हैं। अब और देखिये-

अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले।
दिव्यप्रहरणाश्चासन्पूर्वदैवतनिर्मिताः ॥ १७॥
अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबंधुषु राजसु ॥२१॥

म भारत. उद्योग. अ. ९८

" हे मातले! यहां राक्षस जाति और दैत्य जातिके लोक, जिनके पास युद्धविषयक शस्त्रास्त्र उत्तम रहते थे, निवास करते थे। राक्षसादिकों को जो कि शासन करने के लिये भी कठिन हैं उनका भी शासन यह करता है।" यह इस शासनका वर्णन देखने योग्य है। इसमें यह भी सिद्ध हो रहा है कि राक्षस और दैत्य परस्पर भिन्न

जातियां थीं और ये जातियां भी इस महीतल नामक भारत वर्षके एक प्रांतमें आकर रहती थीं। यह महीतल देश पूर्वोक्त पाताल देशके उत्तर भागमें ही होना संभव है क्यों कि महीतलसे ही मातलि पातालमें गया है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि यह सब वर्णन भारत वर्षके पश्चिम समुद्रके समीपके प्रदेश का ही वर्णन है। गोकर्ण क्षेत्र तथा मलयगिरी पश्चिम समुद्रके समीवर्ति प्रदेशमें ही हैं, वहां से उत्तर दिशामें आते आते पश्चिम समुद्र और सह्यपर्वतके मध्यका जो प्रांत है उसके ये नाम महाभारतके पूर्व समय के हैं ऐसा उक्त वर्णनोंसे स्पष्ट हो रहा है। उद्योग पर्वमें ऐसा कहा है कि यह "पुरातन इतिहास है।" अर्थात् उस प्राचीन समय का यह पुरातन इतिहास है। महाभारत के समय पश्चिम समुद्रके प्रदेशको "अपरान्त, अपरान्तक" ये नाम थे।—

सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
सर्वाण्येवाऽनुपूर्वेण जगामाऽमितविक्रमः॥

म० भारत आदि० अ० २२०

"वह महा पराक्रमी अर्जुन अपरान्त देश में तीर्थ और पुण्य स्थान सब क्रमसे देखता हुआ भ्रमण करता रहा।"

इस भ्रमण वृत्तांतसे हम इन प्रांतोंका क्रम निश्चित कर सकते हैं—

मातलि "मही-पृष्ठ" से (अरावली तथा विंध्यपर्वतके ऊपरसे) "मही-तल" में उतर कर पहिले वह वरुण देशमें गया —

अवगाह्य तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपां पतिम्॥ ६॥

महा० भा० उद्योग अ. ९८

"मातली और नारद ये दोनों नीचे वाली भूमिपर उतरे और जलके स्वामी वरुणको उन्होंने देखा।" यहां निम्न भूमिका तात्पर्य पर्वत के उतरनेपर प्राप्त होने वाला निम्न प्रदेश ही है।

पश्चात् वही मातली नागलोकोंकी पाताल नगरीमें आगया देखिये—

एतत्तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥
म. भा. उद्योग अ. ९९ । १

" यह नाग लोक की पाताल नगरी है जहां दैत्य और दानव रहते हैं । " यहां मातली अब पहुंचा ।

वहांसे वह दैत्योंके हिरण्यपुर को पहुंचा देखिये-

हिरण्यपुरमित्येतत्ख्यातं पुरवरं महत् ।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम् ॥
म. भा. उद्यो. १०० । १

" यह माया व्यवहार करने वाले दैत्य दानवोंका हिरण्यपुर है । " यहां भ्रमण करके नारद और मातली आगे को चले और पश्चात् वहांसे सुपर्ण लोक को गये देखिये-

अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम् ।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ॥
म. भा. उद्योग १०१ । १

नारद मातलिको सुपर्ण लोक का दर्शन कराते हैं - " यह सुपर्णोंका लोक अर्थात् देश है । "

वहां भी उसके चित्तके अनुकूल दामाद प्राप्त न होनेके कारण वह रसातलमें गया देखिये-

इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम् ।
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसंभवा ॥
म० भा० उद्यो० १०२।१

" यह रसातल पृथ्वीका सातवां तल है । यहां उत्तम गौएं हैं । " इस स्थानपर नारद और मातलि आ पहुंचे ।

रसातल के विषयमें पुराण गाथा नामक प्राचीन इतिहास महाभारत उद्योग० अ०१०२ में निम्न श्लोक देखने योग्य है-

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
परिवासः सुखस्तादृक् रसातलतले यथा ॥ १५ ॥

म० भारत० अ० १०२

"नागलोक में, स्वर्ग में, विमानरूप त्रिविष्टप में, वैसा निवास सुख दायक नहीं है जैसा रसातलतल में है।" अर्थात् रसातलतल का स्थान सुरम्य है और वहां रहना भी सुखदायक है।

मातली दामाद के लिये ढूंढ रहा था। उसने रसातल की राजधानी भोगवतीमें चिकुर नामक नागका सुपुत्र सुमुख नामक नाग अपनी कन्याके लिये वर पसंद किया। यही भोगवती रसातलकी राजधानी थी। तथा रसातल यह महतिलका एक विभाग या प्रांत था। महीतल और महीपृष्ठ ये दो नाम भूपृष्ठ के प्रतीत होते हैं। महीपृष्ठ वह भाग है जो कि पर्वत के ऊपरका भाग तथा महीतल वह भाग है जो कि पर्वतके नीचे का भाग (High land & low land) समुद्र जलपृष्ठसे बहुत ऊंचा जो विभाग होता है उसका नाम महीपृष्ठ (High land) तथा समुद्र जलपृष्ठके समान ऊंचाई में जो-भूभाग उसका नाम महीतल (Lowland) है। इसी प्रदेशका महाभारतकालीन नाम "अपरान्तक" था। "तल" वाचक नाम महाभारतसे भी अति प्राचीन काल के थे। अपरान्तक का अर्थ अपरसमुद्र के समीपका प्रदेश। "अपर समुद्र" पाश्चिम समुद्रका ही नाम है। पर या पूर्व समुद्र इससे भिन्न है। अपर समुद्रके पास बहुत ग्राम तथा प्रांत थे इसी लिये पूर्वोक्त श्लोकोंमें "अपरान्तेषु" ऐसा बहुवचनी शब्द प्रयोग कियागया है।

रसातलमें नागोंकी अनेक जातियाँ अथवा अनेक कुल या वंश थे, जिनमेंसे कुछ वंशोंके नाम देखिये —

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ ।
कालियो नहुषश्चैव कंबलाश्वतरावुभौ ॥ ९ ॥
बाह्यकंडो मणिर्नागस्तथैवापूरणः खगः ।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ॥ १० ॥
आर्यको नंदकश्चैव तथा कलशपोतकौ ।
कैलासकः पिंजरको नागश्चैरावतस्तथा ॥ ११ ॥
सुमनोमुखोदधिमुखः शंखो नंदोपनन्दकौ ।

*

आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरकस्तथा ॥ १२ ॥
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिंडकः ।
द्वौ पद्मौ पुंडरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ॥ १३ ॥
करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च ।
पिंडारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः ॥ १४ ॥
दिलीपः शंखशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथापराजितः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा ॥ १५ ॥
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः ।
बधिरान्धौ विशुंडिश्च विरसः सुरसस्तथा ॥ १६ ॥
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः ।

महाभारत उद्योग अ० १०३

इन श्लोकोंमें दसवें श्लोक में " कुकुण " एक शब्द है । इसी शब्दसे संस्कृतमें "कुंकण, कौंकण " ये शब्द बने हैं और मराठी का " कोकण अथवा कोंकण " शब्द बना है । कोंकण उस प्रांत का नाम है जो मुंबई से गोकर्ण तक लंबा और सह्य पर्वतसे पश्चिम समुद्र तक चौडा है। उत्तरमें मुंबई, दक्षिणमें गोकर्ण, पश्चिम में पश्चिमीय समुद्र या आरबी समुद्र और पूर्व में सह्य पर्वत है । इस प्रांतका नाम " कोंकण " है और यह कोंकण नाम इस नाग राजाके नामसे संबंधित है । अर्थात् किसी प्राचीन काल में इस नाग राजाने बडा विक्रम किया होगा। अथवा इस नाग जातीके लोगोंने बडा पराक्रम किया होगा जिस के कारण उनके राज्यके प्रदेशकोभी उनकाही नाम पडा ।

अपरान्तक प्रदेश काही नाम कोंकण है अर्थात अतिप्राचीन नाम महीतल, पाताल, रसातल आदि " तल " प्रत्ययांत थे, महाभारत कालीन नाम अपरान्तक और इस समयका नाम कोंकण है ।

इसी प्रांतमें नागलोग रहते थे, तल, अतल, वितल, सुतल, महीतल, रसातल, तलातल, पाताल ये नाम इसी देशके विभिन्न भागोंके हैं । महाराष्ट्रके प्राचीन पुस्तकों में " चौदह ताल कोंकण " देश है ऐसा वर्णन भी है । उक्त स्थानमें पातालोंके सात नाम आते हैं । प्रत्येक के दो दो विभाग करनेसे ठीक चौदह हो जाते हैं । इस में महीतल मध्य त्रिभाग, पाताल सबसे दक्षिण त्रिभाग और अतल सबसे उत्तरीय विभाग

समझना उचित है। " अतल " शब्द ही बता रहा है कि वह प्रदेश (अ-तल) तल नहीं है परंतु महीपृष्ठ भी नहीं है। अर्थात् तिब्बत ही नहीं और समुद्रके सम निचला भूभागभी नहीं है। पाताल शब्द समुद्र पृष्ठ के बराबर वाले भूभाग का नाम इससे स्पष्ट हो रहा है। अन्य नाम न्यूनाधिक उच्च नीच भूभागके हैं।

कौं क ण सह्यपर्वत – देश – महीपृष्ठ

अतल

महीतल

पाताल

समुद्र

इस प्रकार सिद्ध हो रहा है कि नाग लोक कोंकण देश का नाम है, इसीका नाम पाताल है। इस पाताल देशके लोगोंकी लडकियोंके साथ स्वर्गके इंद्रसारथी मातलिकी पुत्री का विवाह होता था अर्थात् नाग लोग भी मनुष्य ही थे और तिब्बत की देव जाती भी मनुष्य ही थी। जिस प्रकार आजकल जापानी और योरोपीय नामसे भिन्न जातीय या भिन्न देशीय लोग समझे जाते हैं उसी प्रकार उस प्राचीन कालमें तिब्बत में देव जातीके मनुष्य, भारतके उत्तर भागमें आर्य जातिके मनुष्य, इस कोंकण में नाग या सर्प जातीके मनुष्य रहते थे।

अब उक्त सर्प जाती के नामों का भी विचार करना चाहिये। उक्त श्लोकों में जो सर्पजाती के कई नाम दिये हैं वे ही नाम इस समय मराठा क्षत्रियों में चले आते हैं देखिये–

	संस्कृत	महाराष्ट्री	मराठी नाम
१	वासुकि	वासुइ	वासे, भासे
२	तक्षक	तखअ	तखे, तिखे
३	कर्कोटक	कक्कोडअ	कोकटे, गोकटे
४	कालीय	कालीअ	काळिये, काळ्ये, काळे.
५	वामन	बामण	बामणे
६	कुकर		कोकरे
७	कुकुण		कोंकणे
८	नंदक	णंदअ	नंदे, णंदे
९	कलश	कलस	कळशे
१०	पोतक	पोतअ	पोते.

११	पिंजरक	पंजरअ	पिंजरे
१२	नाग	नाग	नाग
१३	शंख	संख	संक
१४	कोटरक	कोट्टरअ	कुटरे
१५	निष्ठरिक	निट्टरिअ	निचुरे
१६	तित्तिरि		तितरे
१७	मुद्गर	मोग्गर	मोगरे
१८	करवीरक	करवीअक	करवे, कर्वे
१९	पिठरक		पिठरे
२०	दिलीप		दुळीप, धुळप
२१	शिरीषक	शिरिखअ	शिर्खे, शिर्के
२२	शंखपाल	(नागनंदनाटकसे)	संकपाल
२३	विरजा		बिरजे
२४	कंबल		कांबळे
२५	मणि		माने, मणे
२६	आर्यक		आडके
२७	शबल		साबले, सांपळे
२८	सुमन		सोवने, सोने, सोमणे सोमण
२९	पिंगल		पिंगळे
३०	पिंडरक		पेंढरे
३१	करवीर		करवीरे
३२	बिल्वक		बेल्हे, बेले
३३	हरिद्रक		हळदे
३४	पन्नग		पानके
३५	श्रीवह		शिरवे, सुरवे
३६	कुठर		कुठरे
३७	कुंजर		कुंजरे
३८	कर्दम		कदम
३९	कर्कर		कर्करे

इन नामोंके कई नाम म० भारत आदिपर्वके आस्तीक पर्व अ० ३५ से लिये हैं और कई उद्योग पर्वके पूर्वोक्त श्लोकोंसे लिये हैं।

इस प्रकार नाग जातीके नाम मराठा क्षत्रियोंके जाति वाचक नाम इस समय प्रसिद्ध हैं और भी कई नाम ढूंढने पर मिल सकते हैं। अन्य प्रांतों में भी इन नामोंकी खोज करनी चाहिये।

यहां इतना कहना आवश्यक है कि जातिवाचक नाम जो इस समय नामोंके आगे लगाते हैं उनमें बडा इतिहास है। प्राचीन नामोंको ठीक प्रकार ढूंढनेमें उनकी बडी सहयता हो सकती है। कईयोंके नाम बडे विचित्र से दिखाई देते हैं इस लिये कई लोग उनको छोड देते हैं, परंतु यह भूल है। उक्त प्रकार तुलना करनेसे पांडवकालीन जातियोंका पता लग सकता है और बडी ही इतिहासिक खोज हो सकती है। इसलिये जातिवाचक नाम तथा ग्रामके नाम इन दोनोंका इतिहास की खोज की दृष्टिसे बडा महत्त्व है इसलिये इसको कोई व्यर्थ न समझे।

नागनाम	मराठी नाम
नागपति — नागवइ --- नागवी —	नागवे
पर्णपति --- वण्णवई --- वणवी ----	वणवे
तलकर	तळेकर
फणिवर	फणिवर

यदि ये जातिवाचक नाम मराठोंमें इस समय प्रचलित न होते, तो नागजातीका पता लगाना प्रायः असंभवही हो जाता। ये नाम महाराष्ट्रमें इस समय हैं, इस लिये इस समय निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि मराठा क्षत्रियों में कई नागकुल के लोग विद्यमान हैं। इससे पूर्व गणदेव जातीके महाराजिक ये मराठे हैं यहभी बताया जा चुका है।

राज तरंगिणीमें कहा है कि प्राचीन कालमें कश्मीरमें नागोंका राज्य था। खांडव प्रस्थकी दक्षिण दिशामें तथा यमुना नदी की दक्षिण दिशामें खांडव वनमें नांगोंकी वस्ती थी यह वृत्तांत खांडव दाह पर्वमें आदिपर्वमें ही लिखा है। नागपुर में नांगोंका वास्तव्य था इस विषयमें हरिवंशमें वर्णन है। अर्थात् पांडवोंके पूर्व समयमें तथा

पांडवोंके समयमें भारत वर्षमें कोंकणसे अन्यत्र भी नागोंका राज्य या वसाहत थी। सर्पसत्र के काव्यपूर्ण वर्णनसे स्पष्ट होरहा है कि नागों और आर्योंका बडा भयानक युद्ध हुआ था और आर्योंने नागोंकी बडी भारी कतल की थी। इतना होने परभी कई नाग आर्योंके मित्र भी थे और इसी कारण अर्जुन का उलूपी नागकन्याके साथ विवाह हुआ था।

तात्पर्य यह है, कि नागजातीका मूल स्थान पातालदेश अर्थात् कौंकण और वहांसे वे अन्यत्र भारत वर्षमें फैले थे। इसी लिये पाण्डवादि आर्य वीरोंने उनको उत्तर भारत से फिर दक्षिण भारतमें हटा दिया था। और उनको इस प्रकार हटानेके लिये ही नागोंका आर्योंसे युद्ध हुआ था।
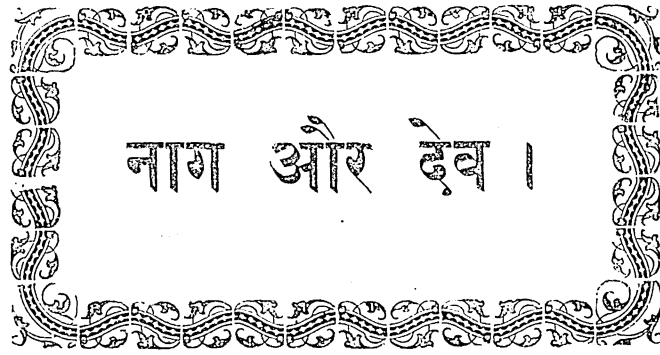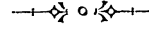
नाग और देव।

पूर्वोक्त वर्णनोंसे पता लगता है कि तिब्बत देशमें देव जातीके मनुष्योंका राज्य था। आर्यावर्त देश अर्थात् उत्तर भारतमें आर्यजातीके मनुष्योंका राज्य था और भारतके पश्चिम समुद्रके पासके कौंकण देशमें नाग जातीके मनुष्योंका राज्य था। आर्योंके अभ्युदयके पूर्व प्रायः संपूर्ण भारत वर्षमें नागजातीने अपना अधिकार जमाया था, तक्षशिला, खांडववन आदि स्थानके वर्णन विशदरूपसे बता रहे हैं कि वहां नागजातीका शासनाधिकार था। खांडववन इंद्रप्रस्थके पास था और वहां नागोंका राज्य था। अर्जुन ने खांडववन जलाकर वहांके नागोंका संहार किया इसीलिये नागलोक आर्यजाती के नाशके लिये तैयारी कर रहे थे परंतु अंततक वे अपना बदला न लेसके। एकवार दबी हुई जाती फिरसे उन्नत होना कई कारणोंसे कठिन हो जाता है। अर्जुनादि आर्यवीरों ने नागजातीको इतना दबाया कि उनका पुनरुत्थान असंभव हुआ। वासुकी, तक्षक, अश्वसेन आदि नागजातीके वीर अपनी ओरसे बडे प्रयत्न कर रहेथे, परंतु किसीके भी यत्नकी सफलता प्राप्त नहीं हुई। अश्वसेनने कर्णका आश्रय करके अर्जुन के वधका
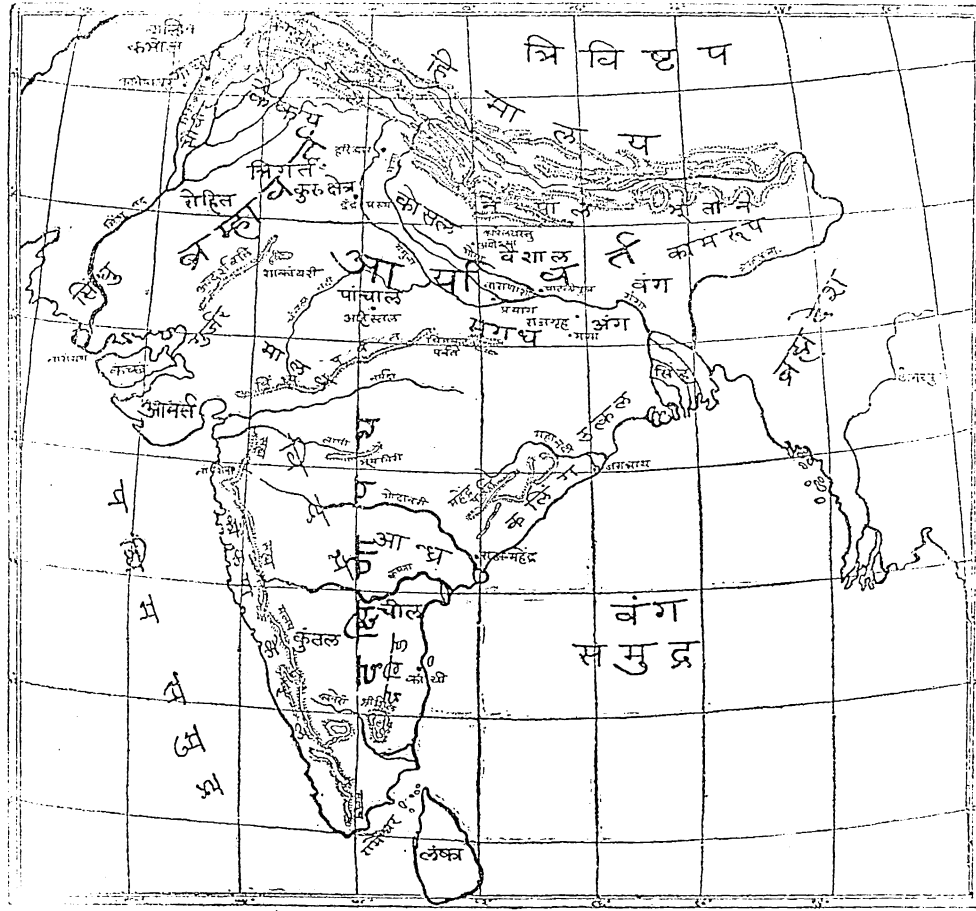
प्राचीन समय का भारतवर्ष ।

प्रयत्न किया परंतु वह फलीभूत नहीं हुआ और वहांही अश्वसेनको मरना पडा। तक्ष-क ने परीक्षित को गला घूटकर मारा, परंतु उस कारण आर्योंने नागोंकी कतल अधिक क्रूरताके साथ की। इस प्रकार जो जो प्रयत्न पराभूत नागजातीने अपनी उन्नति के लिये किये वे असफल ही हुए। और उन अराजकीय (anarchical) अत्याचारोंसे नागजातीका अधःपात ही होता गया।

जिस समय आर्योंका हम्ला नागजातीपर हुआ उस समय नागोंके राजा तक्षक ये स्वयं इंद्रलोकमें अर्थात् तिब्बतमें जाकर देवराज इंद्रके मेहमान बनकर रहेथे । ये वहां इस लिये गये थे कि इंद्रसे अपनी नागजातीकी रक्षाके लिये कुछ सहायता मिलजाय

तो उस दिशासे यत्न करना । सर्पसत्रके प्रसंगमें अर्थात् सर्पजातीकी कतल होनेके प्रसंग में ये सर्पराज तक्षक इंद्रकी शरणमें गये थे और इन्द्रने इनको आश्रय भी दिया था। परंतु उसका भी कुछ उपयोग न हुआ क्यों कि आर्यजातीके वीरोंका पराक्रम इस समय अधिक ऊंचे दर्जेपर था । और इस कारण देवराजकी सहायता प्राप्त होनेपर भी नागजाती आर्योंका कुछभी बिगाड न कर सकी ।

इस पूर्व इतिहास को यहां लिखनेका हेतु यह है कि इसे देवजाती, आर्य जाति और सर्प जाति ये सब जातियां मनुष्यजातियां ही थीं, यह सिद्ध हो जाय। देव आर्योंके शत्रु भूत सर्प जातीकी भी सहायता करते थे, तथा महादेवादि भूतजातीके राजाने असुरराक्षसोंको सहायता कर करके बहुत प्रबल बनाया था, जिसके कारण आर्योंको बडा क्लेश भोगना पडा था। इससे स्पष्ट होता है कि देव जाती भी एक स्वतंत्र मनुष्यजाती थी और देवों के राज्य का राजनैतिक संबंध किसी समय असुरोंसे, किसी समय सर्पजातीसे और किसी समय आर्योंसे हुआ करता था । अतः ये सब जातियां मनुष्यरूप होनेमें शंका ही नहीं है ।

स्वर्गद्वार ।

तिब्बत देशको हमने स्वर्ग निश्चित किया है, उस स्वर्गमें भी स्वर्ग, त्रिविष्टप, आदि विभिन्न प्रांत होना संभव है, क्योंकि —

> न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
> परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥

महाभारत उद्यो० १०२।१५

इस श्लोकमें स्वर्ग और त्रिविष्टप भिन्न देश होनेका वर्णन है। संभवतः तिब्बत के पूर्व भागको त्रिविष्टप और पश्चिम भागको स्वर्ग कहते होंगे, क्योंकि गंगोत्री, बद्रिनाथ, बद्रिकेदार आदि स्थानों के उत्तर प्रदेशमें "स्वर्गद्वार" नामक एक स्थान ही है। हिमालय के एक शिखरपर यह स्थान है । कई इसे स्वर्गकपाट कहते हैं और कई स्वर्ग द्वार कहते हैं । यह स्थान प्राचीन कालमें स्वर्ग में प्रविष्ट होनेका स्थान विशेष था । जिस प्रकार राज्यमें प्रवेश मार्ग होते हैं उसी प्रकार देवराज्यमें प्रवेश करनेका यह विशेष प्रशस्त मार्ग था । उसका स्मरण रखनेके लिये ही इस समय " स्वर्गद्वार " नामसे उस स्थानकी पवित्रता मानी जाती है । हरएक त्रिस्थलीके यात्री इसका दर्शन करते ही हैं

और कमसे कम जीवन में स्वर्ग नहीं तो न सही, स्वर्गके द्वार का दर्शन अपने चर्मचक्षुओं द्वारा कर के अपने आपको धन्य समझते हैं । इस स्वर्गद्वार नामक स्थानसे सिद्ध होता है कि स्वर्ग उस स्वर्गद्वार के परे है अर्थात् हिमालय के परे है । इसी लिये हमने इस से पूर्व बताया है कि तिब्बत ही स्वर्ग था और यहां पता लगा है कि इसके पश्चिम भागका नाम " स्वर्ग " और पूर्व विभागका नाम " त्रिविष्टप " था । यह भी स्थूल दृष्टिसे ही निर्देश है क्योंकि उस समय के स्वर्गीय प्रदेशके विविध प्रांतोंका पता इस समय लगना करीब करीब असंभव है क्योंकि काल बहुत व्यतीत हुआ है और स्थानों में परिवर्तन भी बहुत हो चुके हैं । तथापि जो जो निर्देश आर्य साहित्यमें हमें मिलते हैं उनसे जहांतक पूर्व कालीन भूविभागों की खोज हो सकती है करनी आवश्यकही है और उस खोजके प्रकाशमें उस प्राचीन कालका इतिहास पढना आवश्यक है । इसी दृष्टिसे ये लेख लिखे जा रहे हैं । अस्तु । इस प्रकार स्वर्गद्वार का पता लगनेसे हमें स्वर्गके मार्गका पता लगा है । भारतवर्षसे जो लोग स्वर्गमें जाते थे वे इसी स्वर्गद्वारके मार्गसे ही जाते थे । आगे स्वर्गारोहणपर्व में पांडवोंके स्वर्गमें जानेका वर्णन आनेवाला है उस स्थानमें पाठक देख सकते हैं कि पांडव लोगभी हिमालय पर्वत चढकर ही स्वर्गमें पहुंचे थे ।

स्वर्गारोहण का अर्थ स्वर्गलोक में चढना है। इस शब्द में जो " आरोहण " शब्द है वह पहाडोंपर चढनेका अर्थ बताता है । वृक्षपर आरोहण, हाथी या घोडेपर आरोहण, अथवा पर्वतपर आरोहण होता है, अर्थात् निम्न भागसे ऊंचे भागपर चढनेका तात्पर्य इस शब्दसे व्यक्त होता है । इस लिये यह शब्द सिद्ध करता है कि स्वर्ग किसी तिब्बेपर है, इसी हेतुसे हमने तिब्बतमें इसके होनेका निश्चय किया है ।

पांडवों के स्वर्गारोहण का वृत्तांत जो महाभारत के अंतमें दिया है उससे स्पष्ट पता लगता है कि तिब्बत ही स्वर्गधाम है क्यों कि धर्मराज आदि जो वीर स्वर्गमें गये वे हास्तिनापुर (दिल्ली) से गंगा किनारे पहुंचे अर्थात् देहलीसे उत्तर दिशामें गये, वहां

गंगानदीमें स्नान करके फिर उत्तर दिशामें चलकर स्वर्गमें पहुंचे हैं। हस्तिनापुरके उत्तरमें गंगानदी और गंगाके उत्तरमें हिमालय है। यह स्थिति देखने से स्पष्ट हो रहा है कि स्वर्ग हिमालय पर्वतके परे ही है। अर्जुन जीवित दशामें ही महादेव के पास तथा इन्द्रके पास शस्त्रास्त्र सीखने गया था वह भी उत्तर दिशामें ही चलकर वहां पहुंचा था। इससे सिद्ध है कि भारतवर्षकी उत्तर दिशामें गंगा और हिमालयके परे स्वर्गधाम है। और इसी स्थानमें धर्मराज आदि गये थे। आगे जाकर सम्राट् धर्मराज जब स्वर्गके पास पहुंचे तब वहांके देव अपने अपने रथ आदि लेकर उसका स्वागत करनेके लिये आये थे। यह महाभारत के अंतिम भागका वर्णन देखनेसे स्पष्ट होता है कि यह सत्कार की रीति भी विजयी पुरुषोंके योग्य ही है। देखिये—

ततः सन्नादयञ्छक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम्॥

म. भा. महाप्रस्था. ३।१

जब सम्राट् धर्मराज स्वर्गके पास पहुंचे तब "इंद्र अपने रथके साथ दिशाओंको शब्दमय करता हुआ सन्मुख आया, और बोला कि आप रथ पर बैठिये।"

यह वर्णन स्पष्ट सिद्ध करता है कि भारतीय विजयी सम्राटोंका स्वागत स्वर्गमें भी किस प्रकार किया जाता था। यहां प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों किया जाता था? भारतीय वीरोंका स्वागत तिब्बत की देव जातीके लोग क्यों करते थे? इसका उत्तर देने के लिये हमें स्वर्गधाम का अधिक विचार करना चाहिये–

स्वर्ग धाम।

इस शब्दमें "धाम" शब्द विशेष महत्त्व रखता है। धामका अर्थ है "घर" (Home) निवास स्थान, आश्रयका स्थान आदि। स्वर्गही अपना घर है। स्वर्गको ही अपना सचा घर ये लोग मानते थे। यहां विचार करना चाहिये कि भारत देशमें आकर बडे बडे पराक्रम करनेवाले वीर पुरुष हिमालयके परे अपना घर क्यों मान रहे थे? किस अवस्थामें ऐसा मानना संभवनीय होसकता है? यह बडी विचार-णीय बात है और इसके खुलजानेसे बडी इतिहासिक खोज होना संभव है।

उक्त शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये तथा उस अति प्राचीन काल की इतिहासिक

बात का ज्ञान होनेके लिये हम एक उदाहरण लेते हैं-- इस समय इंग्लैंद के वीर इस हिंदुस्थानमें आते हैं, यहां शासनका कार्य करते हैं, वृद्ध होनेके पश्चात् पेनशन लेकर अपने धाम (Home) में जाते हैं और अंतिम समय अपने देशमें जाकर रहते हैं। अंग्रेज जबतक इस देशमें रहकर साम्राज्य चलानेका कार्य करते रहते हैं, तबतक हिंदुस्थान को अपना धाम (Home) नहीं समझते प्रत्युत इंग्लैंद को ही अपना धाम सदा मानते हैं। कई बडे बडे अधिकारी विशेष कार्य करके जिस समय अपने इंग्लैंदमें वापस जाते हैं उस समय उनके विशेष विशेष कार्यके अनुकूल उनका सत्कार इंग्लैंदके किनारेपर किया जाता है।

यह बात जो आजकल अपने देशके संबंधमें होरही है यदि पाठक ठीक विचार की दृष्टिसे देखेंगे तो उनके प्राचीन समय की बातभी इसी प्रकार प्रत्यक्ष हो जायगी। देखिये—

तिब्बत की देवजाती अथवा देवयोनी जातीके वीर पुरुष उस समय के भारत वर्षमें आते थे, यहां शौर्य वीर्यादिके विशेष विशेष और महान महान कार्य करते थे, अपने साम्राज्यका विस्तार करते थे, यहां विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे और वृद्ध अवस्था में अपने स्वर्गधाम (Home) में जाकर रहते थे। जिस समय ये वीर पुरुष अपने स्वर्ग धाममें वापस जाते थे उस समय वहांके उनके पूर्व संबंधी, पूर्व परिचित अथवा स्वर्ग राज्यके अधिकारी उनकी योग्यता के अनुकूल उनका आदर और सत्कार करते थे और उनको यथा योग्य स्थानमें आदरके साथ रखते थे।

धर्मराज आदि पांडवोंका जन्म हिमालयकी पहाडियों के ऊपर तिब्बत निवासी देवजातीके वीरोंके वीर्यसे हुआ था। बालपन भी वहां ही व्यतीत हुआ था। तारुण्यके समय वे आर्यावर्तमें उतरे थे। आर्यावर्तमें आकर इन वीरोंने अनेक पराक्रम किये, अनेक विजय प्राप्त किये, साम्राज्य बढाया और वृद्धापकालमें अपने पुत्रोंपर राज्य का भार सौंपकर स्वयं अपने स्वर्गधाममें वापस चलेगये। इस वापस होनेके समय स्वर्गके देव जन सम्राट् धर्मराजका आदर सत्कार करनेके लिये सन्मुख आये थे। यह वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि तिब्बत निवासी कई मानव जातियोंका भारतवर्षके साथ उस समय में संबंध किस प्रकारका था। विजय के इच्छुक, साम्राज्यकी इच्छा करनेवाले तथा यश को चाहनेवाले हिमालयके रहनेवाले वीर लोग भारतवर्षमें आते थे और यहां बुद्धादि

करके अपनी इच्छानुसार अपने उपभोग भोगकर बुढापे में अपने निज धाम त्रिविष्टपमें जाकर रहते थे। इसीलिये कहा जाता था कि स्वर्ग धाम "भोगभूमि" है और भारतवर्ष "कर्मभूमि" है।

आजकल यदि यही परिभाषा बर्ती जायगी तो हम ऐसा कह सकते हैं कि इस समय अंग्रेजोंके लिये हिंदुस्थान "कर्म भूमि" है और इंग्लैंद "भोगभूमि" है। अंग्रेज हिंदुस्थानमें आकर यहां अपना शासन का कार्य करते हैं और इस कर्म का फल इंग्लैंदमें जाकर पेन्शनके रूपमें भोगते रहते हैं। प्राचीन कालमें भोगोंकी रीति कोई अन्य होगी, परंतु उन सब रीतियोंका तात्पर्य एक ही है।

भारतीयोंकी दुर्बलता।

यदि उस अतिप्राचीन कालके भारतवर्षके लोगोंके विषयमें हम विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनको उस कालकी सब जातियां "निर्बल" समझती थीं। जिस समय रावणने वर मांगे थे उस समय राक्षस, देव, पिशाच, भूत आदिकोंसे अवध्यता मांगी थी, भारतीय मनुष्योंसे अवध्यत्व मांगना भी उन्होंने उचित न समझा था!!! राक्षस, देव, पिशाच और भूत इन जातियोंके स्थान निर्देश हमने इससे पूर्व निश्चित किये ही हैं और भारतवर्ष मानव जातीका देश प्रसिद्ध है। इस भारतवर्षीय मानव जाती की दुर्बलता के कारण उनसे अवध्यत्व की शर्तें लगानी रावणने उचित भी नहीं समझीं। क्यों कि किसी राक्षसको भारतीय मनुष्य मार सकेंगे यह बात उसके स्वप्नमें भी नहीं आई होगी!!!

जिस समय भीमने बकासुरका वध किया उस समय वहां के लोग कहने लगे कि यह "अ-मानुष कर्म" है अर्थात् भारतवर्षके मनुष्य इसको कर नहीं सकते—

तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वाऽतिमानुषम्।

म० भा० आदि० १६६। १२

"वहाँ मरे हुए बक राक्षसको देखनेके लिये बाल, वृद्ध और स्त्रियां अर्थात् सब लोग आये, उन्होंने वह अ-मानुष कर्म देखा और आश्चर्य किया।"

बकासुरकी पीडा भारतीय मनुष्योंसे दूर नहीं होसकती यह विचार वहांके लोगोंके मनमें दृढ जमगया था, इस विषयमें निम्न श्लोक देखिये—

न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम्।
म० भा० आदि० १६२। २

बकासुरसे होनेवाला " यह कष्ट भारतीय मनुष्यके द्वारा दूर नहीं होसकता। " इन वाक्योंसे यह स्पष्ट होता है कि भारतवर्षकी मानवजाती अपने आपको अन्य जातीयोंके सन्मुख बडी दुर्बल अनुभव कर रही थी।

" अ-मानुष, अति-मानुष " कर्म का अर्थ ही यह है कि जो कर्म राक्षस, असुर, देव, भूत, पिशाच आदि तो कर सकते हैं, परंतु भारतके मनुष्य कर नहीं सकते। इस समय जैसा कहते हैं कि यह यंत्रादि रचना का कर्म जर्मन, फ्रेंच, अमरिकन या अंग्रेज करे तो करे परंतु हिंदुस्थानी नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अतिप्राचीन कालमें कहा जाता था कि यह कार्य असुर, राक्षस, देव, पिशाच, यक्ष, भूत आदि करे तो करें परंतु भारतीय मनुष्य नहीं कर सकता। दोनोंका तात्पर्य भारतीय मनुष्योंकी, दुर्बलता में ही है। और इसीलिये भारतीय मनुष्योंको कोई गिनतीमें लेने योग्य समझता ही नहीं था। रावणने अपने वर में मनुष्योंसे अवध्यत्व की याचना करनेकी जो उपेक्षा की थी उसका कारण भी उस समयके मनुष्योंकी दुर्बलतामें ही है। इसी प्रकार अन्यान्य राक्षसोंके भाषणोंमें भी उस समयके भारतीय मानवोंकी दुर्बलताही टपकती है। परंतु उन सबका यहां विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

पांडवोंमें देवोंका वीर्य था इस लिये पांचों पांडव अपने आपको अन्य भारतीयोंसे उच्च समझते थे और अन्योंको हीन समझते थे, कर्ण भी देववीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण अपने ही घमंड में था। इस सब इतिहास का विचार करनेसे पता चलता है कि पांडवोंके पूर्वकाल में यद्यपि भारतमें बहुत वीर भी हो चुके थे और ऐसे ऐसे सम्राट् होचुके थे कि जिनके नाम इतिहास में तेजसे परिपूर्ण दिखाई देते हैं, तौ भी भारतीय सर्व साधारण जनताकी वैयक्तिक शक्तिके विषयमें किसी भी उसकालके विदेशी मनुष्यके मनमें बहुत बडा आदर नहीं था और इसके विरुद्ध भारतीय जनता के अन्दर राक्षस देव भूत आदि उस समयकी विदेशीय जातियोंके विषय में वैयक्तिक शक्ति के संबंध में बडा भारी भीतिपूर्ण भाव था। यदि किसी नगरमें कोई राक्षस, देव या भूत जाती का आदमी आजाय तो उसे कोई प्रतिबंध नहीं करता था। राक्षस तो इस जातीको

दबाते ही थे, भूतलोग अर्थात् इस समयके भूतानी लोगभी डराते थे और देव भी इन से जो चाहे सो पदार्थ लेजाते थे। परंतु इन सबमें देवजातीके लोग अन्योंके समान उपद्रवी नहीं थे; नरम दिल वाले होनेके कारण उस समयके मनुष्योंको वे इतने सताते नहीं थे। यही कारण है कि राक्षस, असुर, भूत, पिशाच के विषयमें बडा डर भारतीयोंके विषयमें बमता था, वैसा डर देवजातीके विषयमें नहीं था और इसी कारण आगे जाकर देवजाती के साथ भारत वासियोंकी मित्रता हुई थी।

तिब्बत, हिमालय, असुरदेश, तथा भूत देशके लोग आकर भारतमें रहते थे और अपने अपने छोटे मोटे राज्य भी स्थापन करते थे, बाणासुर का राज्य आजकलके रामपुर रियासत में था, यह रामपुर सिमला जिल्हे में है, इसी प्रकार मारवारमें धुंधु रहता था, नासिक और दक्षिण की लंकामें रावण और उसके अनुयायी खर तथा दूषणोंने अपना काम जमाया था, पश्चिम समुद्रपर भी निवातकवचादि अन्यान्य राक्षस आबसे थे। परंतु शुक्राचार्य के सिवाय एक भी भारतीय द्विज असुरों के देशमें जाकर अपना घर करके नहीं रहाथा, यह भी उस समयके भारतीयोंकी कमजोरी ही है।

शुक्राचार्य भी जो असुर देशमें जाकर रहे थे वे भी आचार्य होकर अर्थात् पाठशाला के अध्यापक बनकर गये थे न कि विजयी योद्धा बनकर गये थे। इस के अतिरिक्त जहां वृषपर्वा की राजधानीमें शुक्राचार्य अध्यापक बनकर गये थे वह स्थान भी देवों के राज्य से और भारतीयोंके राज्य से समीपही था, अर्थात् शुक्राचार्य भी राक्षसोंके देशोंके मध्य में नहीं पहुंचे थे। और साथही साथ यह भी शुक्राचार्य कहते थे, विशेषतः कचसे कहते थे कि यह "असुरोंका देश है, यहां संभाल कर रहना चाहिये," अर्थात् शुक्राचार्य भी बेडर होकर असुर देशमें रहते नहीं थे।

(१) संध्याकाल होते ही घरमें वापस आना।
(२) घरसे बहुत दूर भ्रमण के लिये भी न जाना।
(३) असुरोंके संघमें अकेले न जाना,

इत्यादि कचके लिये जो निर्बंध थे वे बता रहे हैं कि जिस प्रकार इस समय हिंदुस्थान के फ्रंटियर अर्थात् अफगाणिस्थान की सरहद में हिंदु लोग रहते हैं और सदा

डरी हुई दशा में रहते हैं, उसी प्रकार शुक्राचार्य भी असुर देशमें रहते थे। वारंवार शुक्राचार्यके शिष्य कचकी कतल करनी और इस रीतिसे शुक्राचार्यको कष्ट देनेसे शुक्राचार्य संतप्त हुए थे और उन्होंने असुरोंको बुलाकर बडा डराया भी था, परंतु असुर राष्ट्रमें जीवित सुरक्षित नहीं था यही बात उससे सिद्ध होती है। अस्तु। कहना इतना ही है कि शुक्राचार्य के सिवाय और कोई बहुतसे भारतीय मनुष्य असुरदेशमें गये नहीं थे, और जो गयेभी थे वे ब्राह्मण वृत्तिसे गये थे, और क्षात्रवृत्तिसे गये न थे। परंतु इसके विरुद्ध भारतदेशमें असुरादि संपूर्ण जातियां आकर रहती थीं और अपने मनमाने अत्याचार करती थीं, और साधारण जनता उनको प्रतिबंध करने में असमर्थ थी।
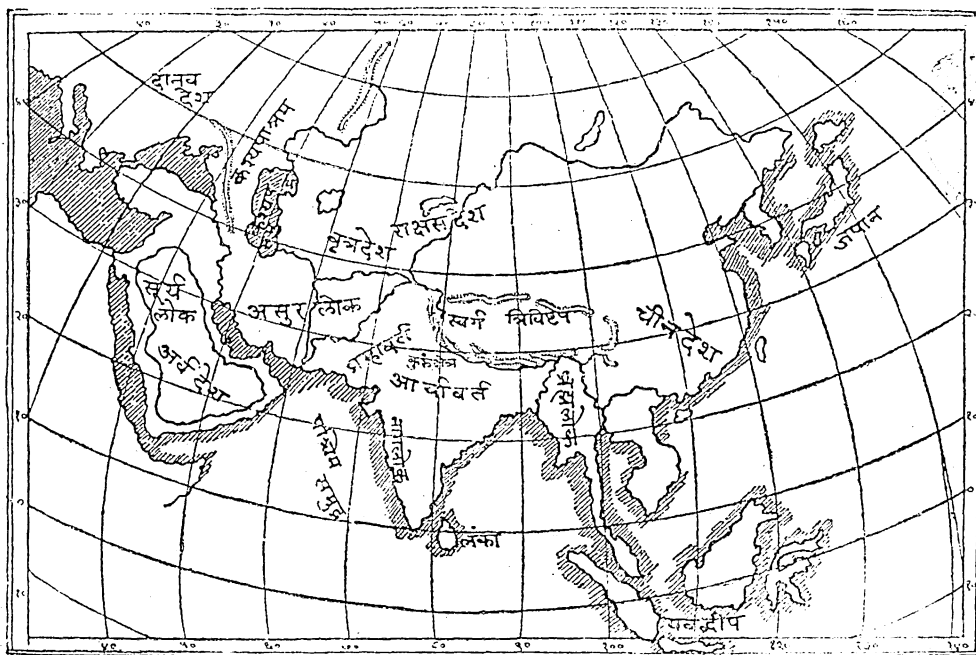
प्राचीन समयकी देशव्यवस्था।

जिस प्रकार इस समय अंग्रेज, जर्मन, फ्रेंच, पठाण, रूसी, जापानी, कोझॅक आदि लोग हिंदुस्थानमें आकर विना रोकटोक अपने सुखोपभोग भोग सकते हैं, परंतु हिंदुस्थान के आदमी इंग्लैंद, जर्मनी, फ्रान्स, अफगाणिस्तान, रूस, जापान, कोझगोंका देश आदि देशोंमें जाते कम हैं और जो जाते हैं वेभी अपनी शक्तिके गौरव से उन देशोंमें रहते नहीं। यही अवस्था अति प्राचीन कालमें अर्थात् पांडवोंके पूर्व कालमें थी।

इसी लिये असुरादि लोग इन भारतीयोंको दबाते थे। और देव भी इस से अपने भोग भेंट के रूपमें लेजाते थे।

कौरव पांडवोंके प्राचीन पूर्वजोंमें से किसी भारतीय राजा ने यह मनमें भी नहीं लाया कि असुरोंके देशमें जाकर वहां अपना राज्य स्थापन करना, प्रतापी पांडवोंने तथा भगवान् श्री कृष्णने भी ऐसी कोई युक्ति नहीं रची कि जिससे भारतीयोंका साम्राज्य भारत वर्षके बाहिर बढे। इनकी जो कुछ युक्तियां थीं और जो कुछ शौर्य था वह भारतीयोंके साथ लडने झगडनेमें खर्च हुआ। भारतीयोंकी आपस की फूट भी इस का हेतु है और यह फूट इस समयतक चली आरही है। यदि भारतके छोटे मोटे राजे महाराजे जो कौरव पांडवोंके पक्षोंमें रहकर लडे और मरे वे ही सब एक होते और भारत वर्षके गौरव के लिये आपस की फूट हटाकर १८ अक्षौहिणी सैन्य साथ लेते हुए भगवान श्री कृष्णकी नीति और अर्जुन तथा कर्णका शौर्य इनका मेल करके असुर देशोंपर हमला चढाते, तो भारतीयों के प्रताप की ध्वजा बाहर भी लगती। परंतु भारतीयों को आपस की फूट बढाकर आपसमें लडमरना ही पांच सहस्रवर्ष के पूर्व पसंद हुआ और इस समय भी वही बात पसंद है !!

इसका कारण।

भारतीय लोक यहांसे बाहर जाते कम थे और यहां ही आपस में लडते रहते थे, इस का कारणभी ढूंढना चाहिये। हमारे विचारमें भारतभूमि की आबहवा इसका कारण है। यह भूमि बडी उपजाऊ है, अनाज आदि पदार्थ विपुल उत्पन्न होते हैं, सर्दी बहुत है नहीं, गर्म देश होने के कारण कपडे नभी हुए तो भी काम चल सकता है। मनुष्यके लिये अन्न और वस्त्र चाहिये। भूमि उपजाऊ होनेके कारण अन्न विपुल है, वस्त्रभी थोडे यत्नसे जितना चाहिये उतना होता है। अर्थात् मनुष्यको आवश्यक अन्न और वस्त्र यहां अति विपुल पैदा होने के कारण यहां की जनता बाहर जानेका कष्ट क्यों करें ? इससे अधिक बाहर कौनसी चीज इनको प्राप्त हो सकती है ? देखिये--देवोंका राष्ट्र त्रिविष्टप (तिब्बत) था, उसमें सदा बर्फ होने के कारण धान्य की पैदाश बहुत कम थी, भूतलोगों का भूतान है उसका भी यही हाल है, तिब्बतके पश्चिम में असुरोंके देश हैं उनमें भी धान्यधुन्य बहुत प्रमाणमें उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य अन्न वस्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय,

तो जो सुख मनुष्योंको भारत वर्षमें होता था और इस समयमें भी हो सकता है, वह भारत के चारों ओर के किसी भी देशमें नहीं प्राप्त होता था। सर्दी के कष्ट बहुत और सुखसे अन्न न प्राप्त होना, ये दो कष्ट असुर देशों में और देवोंके देशोंमें थे और भारत देशमें नहीं थे। यहीं कारण है कि यहां के भारत वासी अपने देशमें ही रहते थे, क्योंकि यहाँ रहते हुए उनका योगक्षेम उत्तम रीतिसे चल सकता था।

परंतु असुर और सुरोंका देखिये, उनके देशमें न तो उनको चाहिए उतना धान्य पैदा होता है और न सम वायुका स्वास्थ्य है। इस कारण असुर, सुर, भूत, पिशाच आदि भारत के चारों ओरके देशके आदमी भारत देशमें आकर रहनेमें जितने आतुर थे उतने यहां के भारतीय लोग असुरादि देशोंमें जानेके लिये उत्सुक न थे।

देशकी परिस्थिति का यह कारण है। इस समयभी इंग्लैंदमें केवल तीन मासके लिये पर्याप्त होने इतनाही धान्य पैदा होता है, इसकारण सालके नौ महिनों के लिये धान्य इंग्लैंद को बाहर से लाना पडता है और ऐसे देशोंसे अपना संबंध जमाना आवश्यक होता है कि जहांसे उनको विपुल धान्य प्राप्त होसके। यह फिक्र ही उन देशवासियों-को बाहर निकालती है और उस फिक्र का अभावही भारतवासियोंको अपने ही देशमें रखता है और बाहर जाने में प्रवृत्त नहीं करता।

अपने देशको छोडकर जो जातियां बाहरके देशोंमें भ्रमण करती हैं उनमें भ्रमणके कारण ही अधिक एकता बसती है, क्यों कि अपना देश छोडनेके पश्चात् ही एकता की बडी भारी आवश्यकता प्रतीत होती है। इस कारण अन्य जातियों में अधिक एकता और स्वदेशमें सदा स्थिर रहनेके कारण भारतीयोंमें बहुत फूट दिखाई देती है।

पाठक यहां यह न समझें कि उक्त दोष यद्यपि अंशतः उक्त कारणों से ही उत्पन्न हुए हैं तथापि ये सब दोष परिवर्तन किये जा सकते हैं, क्यों कि मनुष्यकी पुरुषार्थ शक्ति विलक्षण है और एकबार मनुष्यका निश्चय होनेपर उसको अशक्य भी शक्य होजाता है। परंतु इसका विचार करनेका यह स्थान नहीं, इस लिये इस विषयको यहांही समाप्त करते हैं। यह प्रसंग इतने वर्णनसे इस लिये बताया है कि भारतमें इतने प्राचीन कालसे अन्य देशके लोग क्यों आते थे और अन्यान्य देशोंमें न जाते हुए केवल

भारतवर्षमें ही वे क्यों आते थे। भारत वर्षमें खानपान का सुख है वैसा किसी अन्य देशमें नहीं है, यह कारण जैसा पांच सहस्र वर्ष के पूर्व था वैसाही आज भी है।

देव लोगभी यहां उक्त कारण ही आते थे क्यों कि देवोंके तिब्बतमें भी धान्यकी उपज बहुत कम थी। इसी लिये देवजाती के वीर चाहते थे कि भारत वर्षका संबंध अपनी जातीके साथही हो तथा उक्त कारण ही असुर राक्षसादि जातीके लोग भी मनसे चाहते थे कि अपना संबंध भारत वर्षसे हो जाय और वहां के भोग देवोंको न मिलें और हम असुरोंको ही प्राप्त हों। देव और दानवों के घोर युद्धोंका कारण भारत वर्षही था। जो दो जातियां किसी बाहरके देशपर अपना अधिकार जमाना चाहती हैं उनमें युद्ध प्रसंग होना संभवनीय ही है। देवासुरयुद्धों का यह कारण पाठकोंको ध्यानमें धरने योग्य है।

राक्षस क्रूरताका बर्ताव करतेथे और अधिक सभ्य होनेके कारण देव भारतीयोंके साथ प्रेमके साथ पेश आते थे, इस कारण भारतवासी देवोंके साथ रहना अधिक पसंद करते थे और राक्षसों की क्रूरता के कारण उनको दूर रखना चाहते थे। इस कारण भारतीयोंकी देवोंसे मित्रता हुई और राक्षसों से शत्रुता हुई।

तिब्बतके तथा हिमालयकी पहाडी जातियोंके वीर इस भारतमें उक्त कारण आते थे और भारत वर्षपर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। इस कारण जो उक्त देशोंके वीर यहां आते थे, यहां शासनाधिकार जमाते थे और फिर अपने निजधाम–स्वर्गधाम-में बुढापेमें वापस जाते थे, उनका बडा सत्कार होता था जैसा कि सम्राट् धर्मराजका सत्कार देवराज इंद्रने किया था जो कि पूर्व स्थानमें वर्णन किया जा चुका है।

देवोंका अधिकार।

देवोंका शासनाधिकार भारतवर्षके कई भागोंपर था। खांडव वन का ही उदाहरण लीजिये। इसपर इंद्रका शासनाधिकार था। खांडव वन देहलीके पास होनेसे उसके उत्तर प्रदेशपर उसकाही शासनाधिकार मानना संभवनीय है। अर्जुनादि आर्यवीरोंने उक्त प्रांतोंपर अपना अधिकार जमाया था और इंद्रके सैन्यका पराभव करके जमाया हुआ था। (देखो खांडवदाहपर्व)इससे स्पष्ट है कि स्वर्गकी देवजातीके साथ भारतीय-

राजाओंके भी युद्ध होते थे, परंतु उन युद्धोंका स्वरूप ऐसा नहीं होता था जैसा असुरों-के साथ होनेवाले युद्धों का होता था। क्योंकि देव जाती और आर्यजाती परस्पर मित्रता चाहनेवाली जाती थी, परंतु राक्षसादि जातियां शत्रुता करनेवाली थीं।

इतने वर्णनसे यहां भारत वर्षके बाहर की सब जातियां भारत वर्षके धान्यादि आ-वश्यक पदार्थोंके लिये भारतवर्षपर अपना अधिकार जमानेका यत्न करती थीं और इस कारण उनमें परस्पर युद्ध होते थे और यही उनके आपसके द्वेषका कारण था। इस वर्णनसे उस समय के युद्धादिकों के कारण का भी पता लगा ही होगा।

यज्ञ।

असुर कपट युद्धमें प्रवीण थे, वैसे देव न थे। परंतु देव नीतिमान और चतुर थे। इसलिये देवोंका ही विजय अंतमें होजाताथा। तिब्बत के देव और भारतके आर्य इनके समान शत्रु असुर राक्षसादि थे इसलिये देव और आर्य इन दो जातियोंने आपसमें सम-झौता किया था वह समझौता, सुलह (अथवा treaty) संधिपत्र "यज्ञ" के नामसे इतिहास पुराणोंमें प्रसिद्ध है। यहां यज्ञका आध्यात्मिक आदि भाव छोडदें और केवल राष्ट्रीय भाव ही लीजिये, जिसको आधिभौतिक यज्ञ कह सकते हैं वही यहां लेना है। आधिभौतिक अर्थात् मनुष्यादि प्राणियोंके संबंध से बनने वाला यज्ञ। इसमें (१) देवों का सत्कार, (२) देवोंसे संगतिकरण अर्थात मित्रता और (३) देवोंके लिये हवि अर्थात् अन्नका समर्पण ये तीन बातें प्रधान थीं। यज्ञोंसे ही देवोंका गुजारा होता था, इसीलिये देवोंका नाम "क्रतुभुजः" है, अब इस शब्दका विचार करेंगे—

क्रतुभुजः।

(क्रतु) यज्ञ के द्वारा (भुजः) भोजन करने वाले देव होते हैं। भारतवर्षके आर्य यदि यज्ञ न करेंगे तो देव भूखे रहते थे और यज्ञ होनेपर ही उनको अन्न प्राप्त होता था। ये बातें पुराणोंमें सर्वत्र लिखी हैं। देवोंका नाम "क्रतुभुजः" यही भाव बताता है। इसके अतिरिक्त "यज्ञभुजः, हविर्भुजः" आदि बहुतसे नाम हैं, जो यही आशय व्यक्त कर रहे हैं।

यहां शंका उत्पन्न होती है कि देवोंका भोजन इतना पराधीन क्यों था ? भारतवर्षके आर्य यदि यज्ञ करेंगे, तो ही देवोंको भोजन मिलेगा और यदि किसी वर्ष भारतीय आर्यों ने यज्ञ न किया तो, देवोंको अन्न मिलेगा नहीं, यह ऐसा क्यों है ? देवोंकी इतनी परस्वाधीनता क्यों मानी है ? क्या देव भी अपना अन्न किसी अन्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकते थे ? यदि किसी मनुष्यने यज्ञ न किया तो देव बिलकुल उपवास ही करते थे ? अथवा अपना गुजारा किसी अन्य रीतिसे करनेका उपाय सोचते थे ? ये सब शंकाएं उस समय दूर हो सकतीं हैं जिस समय भारत वर्ष और त्रिविष्टप का परस्पर संबंध ठीक प्रकार विदित होगा ।

तिब्बत देवोंका स्थान और भारतवर्ष आर्योंका स्थान है इस में अब शंका नहीं हो सकती । भारत वर्ष देश कृषि प्रधान होनेसे और यहां की भूमि बडी उपजाऊ होने से तथा सिंधु, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्रा आदि बडी बडी नदियां यहां होनेसे थोडे आयास से बहुत धान्यकी उत्पत्ति होना यहां संभव था और अब भी है । इस समय यूरप, अमरिका, आष्ट्रेलिया आदि देशोंमें वैज्ञानिक उन्नति बहुत हुई है, तथापि भारत वर्ष जैसा गेहूं वहां पैदा नहीं होता । यद्यपि कई अन्यान्य देशोंमें धान्य उत्पन्न होता है, तथापि भारत वर्षके अन्नकी स्वादुता उस विदेशीय अन्नको नहीं है । उसी लिये कई वार ऐसा किया जाता है कि आस्ट्रेलियाका खराब गेहूं भारत में लाया जाता है और उसके बदले भारत वर्षका उत्तम गेहूं विलायतमें लेजाते हैं । इससे सिद्ध है कि यहां भारत वर्षमें धान्य बहुत उत्पन्न होता है और उत्तम दर्जेका होता है ।

देवजातीकी उन्नतिके दिनोंमें तिब्बतमें तो अन्य किसी भी देशसे उनको धान्य प्राप्त होना असंभव था, क्यों कि उत्तर और पश्चिम दिशामें जो जातियां रहती थीं, वह सब असुर राक्षस जातियां तिब्बत निवासियोंकी शत्रुरूप जातियां थीं । यदि वहां कुछ धान्य उत्पन्न हुआ भी तो शत्रुताके कारण देवजातीको मिलना असंभव था। परंतु भारत वर्षसे वैसी स्थिति न थी । भारतीय आर्य देवोंसे संबंध करना चाहते थे, और अपने भोजन के लिये किसी ऐसे देशसे संबंध करनेकी आकांक्षा देव भी करते थे कि जिसमें बहुत धान्य मिलनेकी संभावना हो, क्यों कि तिब्बत में बहुत बर्फ होनेके कारण बहुत धान्य उत्पन्न होना और करना अशक्य था केवल सर्दीके कारण वहां हरियावल भी बहुत नहीं है तो धान्य की विपुल उत्पत्ति कहांसे हो सकती है ?

इस लिये देवजाती अपने भोजनके लिये दूसरे देशपर निर्भर रहती थी। पश्चिम और उत्तर दिशाओं में शत्रुओं के देश होनेसे उनको वहां से धान्य मिलना असंभव था और वे देश भी धान्य उत्पन्न करनेवाले देश भारत के समान न थे। इस लिये देव जातीको अपने भोजन के लिये दूसरे देशपर निर्भर रहना आवश्यक था और भारतवर्ष ही एक ऐसा देश तिब्बतके समीप था कि जहां से उन देवोंकी संपूर्ण जरूरियतें उनको प्राप्त हो सकती थीं।

साथ ही साथ भारतीय आर्य लोग अथवा यहां के कृषक ऐसे थे कि जो असुर, राक्षस, भूत, पिशाच आदिकोंके हमलोंसे बडे त्रस्त थे और स्वयं उनको हटानेमें असमर्थ होनेके कारण किसी ऐसी जातीसे मित्रता करनेमें आतुर थे कि जो जाति असुरादिकों से उनकी रक्षा करे और बचाव करनेके मिषसे आर्यजातीका नाश ही न करदे। आर्योंको ऐसी देवजाती मित्रताके लिये मिल गई थी। यह देव जाती असुरादिकोंको परास्त करनेमें समर्थ थी, विश्वासपात्र थी और संधिनियमों के अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण नियत पदार्थ कर रूपमें देनेपर आर्योंकी रक्षा करती थी।

इस संधिका नाम ही "यज्ञ" है। यज्ञके अन्यान्य अर्थ बहुत हैं, उनका यहां संबंध नहीं हैं। यहां राष्ट्रांतरीय संधि (International treaty) के अर्थमें इस शब्दका भाव देखना है। यज धातुके अर्थ—

१ देवोंका सत्कार,
२ देवोंसे संगतिकरण अर्थात् मित्रता, और
३ दान अर्थात् उनको हविर्द्रव्य (अन्नादिक का भाग) देना।

ये तीन अर्थ देखिये, यज्ञमें इन अर्थोंको अनुभव कीजिये और पूर्वोक्त अवस्था में इन अर्थोंकी संगति देखिये, तो इसका आधिभौतिक तात्पर्य (अर्थात् मानवी व्यवहार संबंधी तात्पर्य) उसी समय ध्यानमें आजायगा। यज्ञमें उक्त तीन बातें मुख्य थीं और अन्य रीतिरस्में गौण थीं यह बात यहां विशेष रूपसे कहने की आवश्यकता नहीं है।

यज्ञविरोधी राक्षस।

राक्षस यज्ञका नाश करते थे, ये वर्णन पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर हैं। जहां ऋषि लोग यज्ञ करने लगते थे,वहां राक्षस लोग उन यज्ञोंका विध्वंस करनेका यत्न करते थे।

इसका कारण स्पष्ट ही है कि जिस कर्म से (१) देवोंका सत्कार हो, (२) देवोंसे मित्रता अर्थात् संधि करनेका यत्न हो और (३) जिससे देवोंको अन्नादि पदार्थ विपुल मिलनेका संभव हो, उन कर्मों को देवोंके शत्रु असुर राक्षसादि क्यों कर चलने और बढने दें और उनका नाश क्यों न करें? देवजातीका भला जिससे हो वह बात राक्षसों के लिये कभी पसंत होनी संभव ही नहीं है । क्यों कि देवासुरोंका परस्पर प्रबल द्वेष था । और राक्षस जानते थे कि देवोंके राष्ट्रमें पर्याप्त धान्य उत्पन्न नहीं होता है और देवोंको अन्नादि पदार्थ देनेके लिये ये आर्य ये यज्ञ सदा चलाते हैं, और यहां से जब तक आवश्यक धान्यादि मिलता रहेगा, तबतक देव प्रबल ही रहेंगे, इस कारण यज्ञों का विध्वंस करके देवोंके लिये इस रीतिसे रसद पहुंचानेके कार्यमें विघ्न करनेके हेतुसे राक्षस यज्ञका विध्वंस करनेके लिये कटिबद्ध थे । शत्रुकी रसद बंद करना यह भी एक युद्धका अंग होता है और राक्षसोंको उसका पूरा पता था ।

देव भी जानते थे कि राक्षस इस प्रकार हमारी रसद बंद करते हैं, इस लिये वे जहां यज्ञ चलते थे वहां जाकर यज्ञ कर्ताके पक्षमें रहते थे और राक्षसों का पराभव करके अपना (हविर्भाग) अन्नभाग लेते थे । इस विचार से पता चलसकता है, कि यज्ञ का विध्वंस करने का हेतु राक्षसोंके मनमें क्या था । देवजातीको प्राप्त होने वाली रसद बंद करना ही उनका मुख्य हेतु था ।

यज्ञों में देवोंकी उपस्थिति।

आधिभौतिक यज्ञका अर्थात् मानव व्यवहार रूप यज्ञका वास्तविक स्वरूप समझने के लिये इसका विचार अवश्य करना चाहिये कि देव यज्ञोंमें जाकर स्वयं उपस्थित होते थे या नहीं। ब्राह्मणादि ग्रंथों में और पुराणों में भी यह लिखा है कि प्राचीन कालमें देवताएं स्वयं यज्ञमें आती थीं और हविर्भाग अर्थात् अन्नभाग स्वयं लेती थीं। परंतु पश्चात् उन्होंने स्वयं यज्ञमें उपस्थित होना छोड दिया। यज्ञोंमें देवोंकी उपस्थिति होनेके वर्णन महाभारतमें भी कई स्थानोंपर हैं और अन्यान्य पुराणों में भी कई स्थानों में हैं । इस विषयमें महाभारतका सुकन्याका आख्यान अथवा च्यवन ऋषिकी कथा देखने योग्य है ।

च्यवन ऋषि ।

च्यवन ऋषिकी कथा अथवा सुकन्या का आख्यान महाभारत वनपर्व अध्याय १२१ से १२५ अध्याय तक है। यह आख्यान विस्तारसे पाठक देख सकते हैं । इसका सारांश यह है—

"शर्याति नामक एक राजा था, उसकी एक कन्या सुकन्या नामक थी। इस कन्याने च्यवन ऋषिका कुछ अपराध किया, इस लिये राजाको बडा कष्ट हुआ। पश्चात् राजाने अपनी कन्या च्यवन ऋषिको विवाह करके दान दी। इससे च्यवन संतुष्ट हुआ। च्यवन ऋषि बडे वृद्ध थे और यह कन्या तरुणी थी। एक समय देवोंके वैद्य अश्विनी कुमार वहां आये, उन्होंने सुकन्यासे कहा कि वृद्ध च्यवन को छोड दो और हमसे शादी करो। सुकन्याने माना नहीं। पश्चात् बातचीत होकर अश्विनी कुमारोंने कुछ चिकित्साके द्वारा च्यवन को तरुण बनाने का स्वीकार किया। उन्होंने अपनी चिकित्साद्वारा च्यवन को तरुण बनाया। इस उपकार के बदले अश्विनी कुमारोंको यज्ञमें अन्न भाग देना भी च्यवन ऋषिने स्वीकृत कर लिया। क्योंकि इस समय तक अश्विनीकुमारों को — वैद्योंको — यज्ञमें अन्न भाग लेनेका अधिकार न था। अंतमें च्यवन ऋषिने यज्ञ किया, उसमें सब देव आगये, और जिस समय च्यवन ऋषि अश्विनीकुमारों को अन्न देने लगा उस समय देव सम्राट् इन्द्र कहता है—

इंद्र उवाच— उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः ॥ ९ ॥

च्यवन उवाच— महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवित्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन्वृंदारकमिवाऽजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान्कथं वै नार्हतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरन्दर ॥ ११ ॥

इंद्र उवाच— चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहाऽर्हतः ॥ १२ ॥

लोमश उवाच— एतदेव तदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट्।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १४ ॥
इंद्र उवाच — आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहिष्यसि यदि स्वयम्।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स्मयन्निंद्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः।
जग्राह विधिवत्सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥
ततोऽस्मै प्राहरद्वज्रं घोररूपं शचीपतिः।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तंभयामास भार्गवः ॥ १७ ॥

म० भा० वन १२४

इंद्र बोले— यह दोनों अश्विनी कुमार स्वर्ग में देवतोंकी दवा करते हैं इस लिये इनको सोमदान करना उचित नहीं है। च्यवन ऋषि बोले– हे इन्द्र! ये दोनों अश्विनी कुमार दोनों बडे महात्मा, बडे उत्साही, रूप और धनसे युक्त हैं, इन्होंने मुझे देवतोंके समान वृद्धावस्था रहित – तरुण – बनाया है। हे इंद्र! तुम और सब देवता यज्ञभाग पावें, पर ये क्यों न पावें? यह भी तो देवता हैं? इंद्र बोले— हे च्यवन ऋषि! यह दोनों चिकित्सा करनेवाले, मनुष्य लोकमें घूमनेवाले हैं, तब किस रीति से सोमको योग्य हैं? लोमश मुनि बोले— ज्योंहि इस वचन को इंद्र दूसरी बार कहना चाहते थे, त्योंही भृगुपुत्र च्यवन ने इन्द्रका अनादर करके अश्विनी कुमारोंको सोम प्रदान किया। तब इन्द्र ने कहा– इनके लिये यदि तुम सोम दोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर घोर वज्र मारूंगा। ऐसा कहनेपर भी इन्द्रकी तरफ देखके, कुछ हंसकर च्यवनने आश्विनीकुमारोंको सोम दिया। तब इंद्रने च्यवन ऋषिपर वज्र चलाया, उस समय च्यवनने इंद्र के हाथको स्तंभित किया।"

यह कथा देखनेसे स्पष्ट होता है कि इंद्रादि देव स्वयं भारत वर्षमें आते थे, यज्ञमें स्वयं उपस्थित होते थे, अपनी मानमान्यतामें अथवा अपने आदरमें न्यूनाधिक होनेपर परस्पर लडते भी थे, और पश्चात् अपने लिये प्राप्त होने योग्य अन्न भाग साथ लेकर चले जाते थे। अर्थात् जिस प्रकार हम मनुष्योंका व्यवहार होता है वैसा ही उनका व्यवहार उस प्राचीन कालमें होता था।

अश्विनी कुमार वैद्य होनेसे वे हरएक रोगीके घरमें जाते थे इस कारण इनको यज्ञ भाग लेनेमें अयोग्य माना गया था, परंतु च्यवन ऋषिके प्रयत्नसे उनको अन्न भाग

मिलने लगा । इससे स्पष्ट होता है कि कई देवोंका यज्ञमें अधिकार कम, कईयोंका अधिक और कईयोंका बिलकुल नहीं था ।

यज्ञ भाग, हविर्भाग, अन्न भाग इसका तात्पर्य इतनाही नहीं है कि वहां यज्ञके समय ही कुछ अन्न का भाग भक्षण करना, परंतु उसका तात्पर्य इतना है कि धान्यादि पदार्थोंका भाग भी यहांसे लेजाना । क्यों कि इन यज्ञों में जो धान्यादि उनको प्राप्त होता था, उससे देवों का गुजारा सालभर चलता था । यदि केवल वहां ही पेटभर अन्न उनको मिला तो उससे उनका गुजारा संभवतः केवल एक दिन के लिये ही होगा, इससे उनका कुछ बनना नहीं है ।

देवता लोग यज्ञसे जीवित रहनेवाले थे इसका तात्पर्य इतने विचार से पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार आसकता है । और निम्न श्लोकका भी आशय स्पष्ट हो जाता है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

भ० गीता. ३ । ११

" तुम इस यज्ञसे देवताओंको संतुष्ट करते रहो, और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए दोनों परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो । "

अर्थात् इस यज्ञ द्वारा देवोंकी सहायता आर्योंको और आर्योंकी देवोंको प्राप्त होती है और परस्पर सहायता के कारण दोनोंका कल्याण हो सकता है। यह यज्ञ इस प्रकार दोनोंकी संतुष्टि बढानेवाला होता था । यह सब बातें विचार की दृष्टिसे देखनी चाहिये, क्योंकि यह बात इतने प्राचीन काल की है कि जो समय महाभारत कालके भी कई शताब्दीयां पहिलेका है । और महाभारत के लेखक को भी इस इतिहासिक बात के विषयमें संदेह सा उत्पन्न हुआ था । यहां तक महाभारत का लेखक संशयसे ग्रस्त था, कि उसको सर्प जाती के लोग मनुष्य थे या सांप थे इस विषयमें भी संदेह था, इसी लिये वह किसी स्थानपर लिखता है कि वे सांप थे और किसी समय मनुष्यवत् लिखता है । इसी प्रकार देव दानवादिकोंके विषयमें भी उनको कोई निश्चित कल्पना नहीं थी । परंतु जो कथाएं उस समय प्रचलित थीं उनका लेखन एक दूसरेके साथ जोडकर

उन्होंने किया। अब हमें ही विचार करके निश्चय करना चाहिये कि इतिहासकी दृष्टिसे उन कथाओं द्वारा क्या सिद्ध होता है। देवोंके विषयमें जो बातें हमने यहां देखीं उस से उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्टतासे व्यक्त हुआ है, कि वे तिब्बत में रहते थे और भारतवासियोंकी मित्रता में रहकर उनकी रक्षा करते थे और भारतवासीयोंका भी उनसे प्रेम था। अर्थात् आर्य और देव परस्पर मित्र जातियां थीं और उनका कल्याण एक दूसरे पर अवलंबित था। इससे भी सिद्ध हो सकता है कि देव भी मनुष्य के समान ही मानवजातीके आदमी थे।

स्वर्णदी ।

गंगाका नाम "स्वर्गनदी" किंवा 'स्वर्नदी' है। इसके अन्य नाम ये हैं—

मंदाकिनी वियद्गंगा स्वर्णदी सुरदीर्घिका। अमरको० १।४९

"वियद्गंगा, स्वर्णदी, सुरदीर्घिका" ये सब शब्द "देवोंकी नदी" इसी अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। "सुरसरित्, सुरनदी, अमरगंगा, देवनदी" आदि शब्द भी इसी गंगानदीके वाचक हैं, ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यही गंगानदी देवोंके राष्ट्रसे बहती हुई यहां आगई है। यह प्रारंभ में देवोंकी नदी थी, भारत वर्षमें आकर यही नदी आर्योंको सुख देने लगी है। ये गंगा नदीके वाचक शब्द भी तिब्बत देवोंका लोक है यही भाव व्यक्त कर रहे हैं। नदी वाचक शब्द स्थानका निर्देश स्पष्ट रीतिसे करते हैं इस लिये देवोंके राष्ट्रका निश्चय करने के लिये ये शब्द बडे सहायक हो सकते हैं।

देवोंका अन्नभाग।

अस्तु इस प्रकार देव नामक मानव जाती त्रिविष्टप तिब्बत में रहती थी अपने अन्न के लिये भारतीय लोगोंपर निर्भर रहती थी। भारतीय आर्य लोग यज्ञयाग करते थे और इंद्रादि देवतोंके नामसे अन्नकी मुष्टीयां अथवा अधिक भाग अलग रखते थे, जैसे आज कल मुष्टिफंड होते हैं। देवोंके लिये अन्न भाग अलग रखने के विना ये आर्य लोग किसीभी अन्नका सेवन नहीं करते थे। इस प्रकार देवोंके लिये आवश्यक अन्नभाग

भारतसे मिलता था । देवोंको अन्नभाग पहुंचानेकी व्यवस्था सब छोटे और बडे यागोंमें यागके प्रमाणसे तथा यजमानके धनके अनुसार होती थी ।

यज्ञका पारितोषिक ।

इस प्रकार यज्ञके द्वारा देवोंको अन्नभाग देनेके कारण देव भारतीय आर्योंकी रक्षा करते थे; यह तो स्पष्ट ही है, परंतु इसके अतिरिक्त भी यज्ञकर्ताओंको एक बडा पारितोषिक मिलता था, वह " स्वर्गवास " के नामसे प्रसिद्ध है । आजकल "स्वर्गवास " का अर्थ विपरीत ही हुआ है, स्वर्गवास, कैलासवास, वैकुंठवास आदि शब्द आज कल मरणोत्तर की स्थिति दर्शाने वाले शब्द समझे जाते हैं, परंतु जिस समय देवजाती जीवित थी, और उनका आर्योंसे परस्पर मेलमिलाप का संबंध था, उस समय पूर्वोक्त स्वर्गवासादि शब्द मरणोत्तर की अवस्था बताने वाले न थे । महाभारतमें भी इसके कई प्रमाण मिलसकते हैं—

१ अस्त्र सीखनेके लिये वीर अर्जुन स्वर्गमें गया था, इंद्रके पास चार वर्ष रहा था और वहां अस्त्रविद्या सीखकर वापस आगया था । यह अर्जुनका स्वर्ग वास जीवित दशामें ही हुआ था ।

२ नारद मुनि स्वर्गसे भारत वर्षमें और यहांसे नागलोकमें कई बार भ्रमण कर चुके थे । उनको देवोंके मुनि कहते थे । इनका राजनैतिक कार्य इतिहास में प्रसिद्ध है । ये स्वर्ग में रहते हुए भारतमें भी रहते थे ।

३ लोमश मुनि स्वर्गमें गये थे और वहां का वृत्तांत उन्होंने धर्मराजको कथन किया है । (वनपर्व अ० ९१)

ये सब जीवित दशामें ही स्वर्गवासी होगये थे । इस प्रकार कई प्रमाण दिये जासकते हैं परंतु सब प्रमाण यहां धर देने की कोई आवश्यकता नहीं है । महाभारतके पाठ करते करते ये प्रमाण पाठकोंके सन्मुख आसकते हैं । तात्पर्य उस अतिप्राचीन समयमें स्वर्गवास जीते जी ही होता था और उसका अर्थ " तिब्बतमें निवास " इतना ही था । यहां पाठक पूछ सकते हैं कि स्वर्गका प्रलोभन इतना विशेष कहां है ? वहां तो भोजन के लिये अन्नभी पैदा नहीं होता, फिर वहां जाकर रहने में सुख किस प्रकार हो सकता

है ? इसका उत्तर जिन्होंने हिमालय की सेर की है उनको कहनेकी आवश्यकता नहीं है । हिमालयकी पहाडियों में खाने पीनेके पदार्थ इतने विपुल नहीं प्राप्त होते, परंतु वहां के दृश्य, वहां के आबहवाके सुख, और वहां की शांति अद्वितीय ही है । इस कारण इस समय भी उत्तर भारतके लोग मास दो मासकी छुट्टीयों में " पहाडकी सेर" जरूर करते हैं, तथा धनिक लोग सोलन आदि स्थानों में छोटासा मकान बनानेकी इच्छा करते हैं । इससे स्पष्ट है कि हिमालय और उसके उत्तर भागके स्थानों में कुछ विशेष सुख है, जो यहां विपुल धान्य होते हुए भी नहीं मिल सकता । इसी लिये प्राचीन कालके लोग स्वर्गमें अपने लिये कुछ स्थान मिलने का प्रयत्न करते थे, स्थान मिलने पर वृद्धावस्थामें वहां जाकर आनंदसे रहते थे । भारत देशमें जो जीवन कलह है वह वहां नहीं, सादा रहना और हवाकी उत्तमता रहनेके कारण आरोग्य स्वभावतः रहता है, जलकी निर्मलताके कारण रोग कम होते हैं इत्यादि अनेक सुख स्वर्ग देशके हैं । इस लिये भारतीय लोग स्वर्ग में थोडी भूमि प्राप्त करनेके इच्छुक थे और जो बहुत यज्ञयाग करते थे और देवोंको धान्यादिक बहुत देते थे उनको तिब्बत में थोडा स्थान दियाभी जाता था । देखिये इस विषय में महाभारतकी साक्षी —

अष्टक उवाच-पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं यदि लोकाः पार्थिव संति मेऽत्र।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥९॥
ययातिरुवाच -यावत्पृथिव्यां विहितं गवाश्वं सहारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च ।
तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥

म० भा० आदि० अ० ९२

अष्टक बोले – हे पृथ्वीनाथ ! मुझको जान पडता है कि तुम धर्मसे प्राप्त होनेवाले सब स्थानोंको जानते हो, अतएव पूछता हूं कि स्वर्गादि लोकमें मेरे पुण्यसे प्राप्त हुए कई स्थान हैं वा नहीं ?

ययाति बोले-- हे नरेंद्रसिंह ! सुनो, इस भूमंडलमें गौ अश्व तथा पर्वतके जितने पशु हैं स्वर्ग लोक में उतने ही तुम्हारे पुण्यसे उपार्जित स्थान हैं ।

इस संवाद से पता लगता है कि इस कर्मभूमि-भारतवर्षमें यज्ञादि कर्म करके उसमें देवतोंको अन्न संचय देने से त्रिविष्टपमें रहने के लिये उनको स्थान प्राप्त होते थे । इसी

प्रकारके स्थान अष्टकराजाको प्राप्त हुए थे यह बात जब ययाति स्वर्ग में जीवित दशा में ही गये थे उस समय उन्होंने प्रत्यक्ष देख ली थी और वही बात अष्टकसे उन्होंने कह दी । स्वर्गमें स्थान प्राप्त करनेका साधन यहां यज्ञ करना और उसके द्वारा देव-जातीके मनुष्योंको अन्नभाग देना ही एक मात्र था ।

भारतवर्ष की भूमि बडी उपजाऊ होने के कारण यहां इतना धान्य उत्पन्न होता था कि उसको खाने वाले यहां पर्याप्त संख्यामें न थे । इस समय भी यदि युरोपदेश वाले यहांसे धान्य ले न जांयगे, तो यहां उत्पन्न होने वाला धान्य कमसे कम तीन वर्ष तक यहांके लोगोंको पर्याप्त हो सकता है । युरोपवाले धान्य ले जाते हैं इसीलिये यहां के लोगोंके लिये प्रति वर्ष अकाल साथी हुआ है । नहीं तो यह भूमि ऐसी नहीं है कि जहां इस प्रकार अकाल सता सकता है । तात्पर्य यहां धान्य की विपुलता थी और धान्यकी उत्पत्ति इतनी थी कि उसका क्या उपयोग किया जाय यही उनको फिक्र थी ।

दानकी प्रथा ।

अतिथि सत्कार और दानकी प्रथा भारतवर्षके धर्म के अंदर जितनी अधिक है उतनी किसीभी अन्य देशके महजबमें नहीं है । संपूर्ण ब्राह्मणजाती केवल दूसरोंके दिये धान्यपर जीवित रहती थी, इसके अतिरिक्त अन्य भिक्षु आदि अनेक थे । हर समय ब्राह्मण भोजन, ज्ञाति भोजन, अतिथि भोजन, सहस्र भोजन आदि जैसे भारतीय धर्म में देखे जाते हैं वैसे अन्यत्र नहीं हैं । छोटेसे संस्कारोंके समाप्तीके समय जाति भोजन अवश्य होते थे । गुरुकुलोंमें पचास पचास हजार छात्र रहते थे और सबका भोजन दान मिले हुए धान्यादिसेही होता था । यदि भारतवर्षकी यह दानप्रथा देखीजाय, तो इसके साथ अन्य देशकी तुलना हो ही नहीं सकती । अन्य देशोंके महजबोंमें दानका महत्त्व लिखा है परंतु इतना अन्नदान कहां भी नहीं है । इसका कारण इतना ही है कि अन्य देशोंमें धान्यकी उत्पत्ति न्यून और भारत वर्षमें अत्यधिक होती है । "दान अपने घरसे शुरू होता है (Charity begins at home)" यह वाक्य युरोपमें उत्पन्न हुआ है इसका कारण वहां धान्यका सदा दुर्भिक्ष्य है और भारत वर्षमें जितने भी अतिथि आजांय उनको पेटभर अन्न पहिले दो और पश्चात् स्वयं भोजन करो, यह

धर्म इसी लिये हुवा कि यहां सदा अन्नका सुभिक्ष्य था और अब भी है। यह अवस्था देखनेसे पता लग सकता है कि यज्ञद्वारा अन्नदान करनेकी प्रथा क्यों शुरू हुई और भारतीय आर्य लोग अन्नके दान से त्रिविष्टपके देवोंका बल किस रीतिसे बढा सकते थे।

यज्ञ उ देवानामन्नम्। श० ब्रा० ८।१।२।१०

"यज्ञ ही देवोंका अन्न है।" अर्थात् यज्ञसे ही देवोंको अन्न मिलता है। इंद्रके लिये यह अन्न भाग, वरुणके लिये यह अन्न भाग, इस प्रकार हरएक देवताके उद्देश्य से अलग अलग अन्न भाग रखकर उनको दिये जाते थे। इस प्रकार जो पुरुष अधिक से अधिक अन्न भाग देता था, उसके लिये स्वर्गलोक में अधिक उत्तम स्थान रहने के लिये मिलता था।

भारतीय सम्राट् बडे बडे यज्ञ करते थे और उस समय देवोंके लिये बहुत ही अन्न भाग मिलजाता था। जो भारतीय सम्राट् सौ यज्ञ करता था उसको स्वर्गमें सबसे बडा श्रेष्ठ स्थान मिलता था। इसका तात्पर्य पूर्वोक्त वर्णन पढनेसे स्पष्ट होजाता है। प्राचीन समयमें कई यज्ञ सैंकडों वर्ष चलते थे और उसमें देवतोंके उद्देश्यसे जो अन्नदान होता था उसका कोई हिसाब ही नहीं था। ये यज्ञ जैसे देवतोंके लिये अन्नदान करनेके लिये रचे थे उसीप्रकार भारतीय आर्योंकी आपसकी संघटना करनेके लिये भी थे। परंतु इसका विचार किसी अन्य प्रसंग में किया जायगा। यहां देवजाती के संबंधकी ही बात हमें देखनी है अतः उसका यहां विचार करना उचित भी नहीं है।

इतने सब वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात जमगई होगी कि, भारत वर्षकी उत्तर दिशामें तिब्बत देशमें अर्थात् त्रिविष्टप में "देव" नामक मनुष्य जाती रहती थी और वह जाती भारतीय आर्य जातीकी मित्र जाती थी तथा यह मित्रता दोनों मित्र जातियों–अर्थात् देवों और आर्यों–का हित बढाने के लिये कारण हुई थी।

असुर भाषामें देव शब्दका अर्थ।

हमने पहले बतायाही है कि देवोंके राष्ट्रके पश्चिम और उत्तर दिशाओंमें असुरों और राक्षसों के देश थे। इस लिये हमें पता लगाना चाहिये कि उनकी भाषाओंमें "देव" शब्द का अर्थ क्या है। असुरोंकी भाषा झेंद है, इस भाषामें देव शब्द का अर्थ "राक्षस" ही है। क्रूर, दुष्ट, विनाशक, हत्या करने वाला इस अर्थमें देव शब्द

असुर भाषामें है । परशियन भाषामें ऊर्दूमें अर्थात् असुर भाषासे उत्पन्न हुई अन्यान्य भाषाओंमें भी देव शब्द का अर्थ राक्षस ही है ।

इसका तात्पर्य समझनेके लिये बडी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है । जिस प्रकार असुर और राक्षस देवोंके राष्ट्रपर हमला चढाते थे और दिन रात देवोंको सताते थे, ठीक उसी प्रकार इंद्र अपनी देव सेना लेकर असुरों के देशों पर हमले चढाते थे, असुरों के ग्राम जलाते थे, उनके कीलोंको तोडते थे, उनकी कतल करते थे । अर्थात् जिस प्रकार असुरजातीके लोग देव जातीके लोगोंके कष्ट के हेतु थे, ठीक उस प्रकार देव जातीके लोग असुर जातीके लोगोंके दुःख के कारण थे । इसी लिये असुर शब्द देव भाषा (संस्कृत) में भयानक अर्थमें प्रयुक्त होने लगा और देव शब्द असुर भाषाओंमें क्रूर अर्थमें प्रयुक्त होने लगा । क्यों कि असुरोंके विषयमें जैसा कटु अनुभव देवों के लिये आता था उससे भी अधिक कडुवा अनुभव देवोंके विषयमें असुरोंको आता था । इस लिये परस्पर की भाषाओंमें उक्त शब्द इतने विलक्षण अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं ।

इसका एक उदाहरण इस समय में भी देखा जा सकता है । पठाण लोग आनेका डर महाराष्ट्रमें इस समय लडकोंको दिखाते हैं और पठाणोंके देशमें मराठोंका डर दिखाते हैं । इसका तात्पर्य इन लोगोंने परस्परके देशमें अत्यधिक घात पात किये थे। कुछ कालतक इन घातपातोंका स्मरण रहता है और उसके पश्चात् रूढ शब्दोंको वही अर्थ प्राप्त होता है । अनंत काल व्यतीत होनेके पश्चात् मूल कारण भूला जाता है और शब्दका अर्थ शेष रह जाता है । शब्दकी व्युत्पत्ति करने वालेको यदि मूल इतिहास का पता हुआ तो वह व्युत्पत्ति ठीक करता है, नहीं तो ऊटपटांग मनघडंत व्युत्पत्ति घडते हैं । मूल कारण का ठीक पता न होनेके कारण ऐसा होना अत्यंत स्वाभाविक है । भारतवर्षमें तो इसके उदाहरण अनंत हैं । क्यों कि देववाणी – देव भाषा – (संस्कृत भाषा) के शब्दोंमें शताब्दीयोंका इतिहास भरा हुआ होनेके कारण हरएक शब्दकी उत्पत्तियां और व्युत्पत्तियां अनेकोंने अनेक की गई हैं ! उनमें कई इतिहास की दृष्टिसे ठीक हैं और कई गलत हैं । परंतु इस समय उनका पता लगाने के लिये ठीक मार्गसे इतिहासकी खोज करनी चाहिये और देखना चाहिये कि उस समय इतिहासिक अवस्था किस प्रकार थी । अस्तु। यहां हमने "देव" शब्दका अर्थ असुरभाषामें देखा (Devil) सैतान अर्थ में वह हमें प्रतीत हुआ । इससे भी अनुमान होता है कि देवजाती भी उसी प्रकार

असुर जातीको सताती थी जैसी वह जाती इनको सताती थी। परस्पर शत्रु होनेके कारण ही परस्परके वाचक शब्द परस्परकी भाषामें क्रूर अर्थ बतानेवाले प्रसिद्ध हुए।

यद्यपि संस्कृत में असुर और देव शब्दोंके भले और बुरे भी अर्थ हैं, तथापि असुर का बुरा अर्थ और देव शब्दका भला अर्थ अधिक प्रयोगमें है। इस लिये अल्पप्रयुक्त अन्य अर्थ पूर्वोक्त नियमका बाधक नहीं हो सकता। अस्तु। इससे सिद्ध है कि ये दोनों जातियां अर्थात् असुर जाती तथा देव जाती, परस्पर शत्रु जाती थी और मनुष्योंके समान ही उनका आकार था इस में अब संदेह नहीं हो सकता।

देवभाषा ।

जिस भाषाको हम आजकल संस्कृत भाषा कहते हैं उसका नाम " देवभाषा " भी है। इसके अन्य नाम, " देववाणी, देववाक् दैवीवाक्, अमरवाणी, अमरभाषा, सुरगीः, सुरवाणी, " इत्यादि बहुत हैं। इनका अर्थ यही है कि यह देवजातीकी भाषा थी अर्थात् जो जाती त्रिविष्टप में रहती थी उस मानव जातीका नाम " देव " था और उसकी यह बोली थी जो इस समय संस्कृत भाषा नामसे प्रसिद्ध हैं।

इस भाषाका प्रयोग सिद्ध कर रहा है कि इस भाषाका प्रयोग करनेवाली देव नामक जाती प्राचीन कालमें थी। तथा भाषाका प्रयोग केवल मनुष्यही कर सकते हैं अतः सिद्ध है कि देव नामधारी मनुष्य ही थे। जिस प्रकार आर्योंकी भाषाको आर्य भाषा कहते हैं, और पिशाचों की भाषाको पैशाची भाषा कहते हैं, उसी प्रकार संस्कृत का नाम देवभाषा इस लिये पडा था, कि वह देव जातीके मानवों की भाषा थी।

देवजातीके मानवोंसे आर्य जातीके मानवोंका अति घनिष्ठ संबंध होनेसे देवोंकी भाषा आर्य जाती के पास आगयी और देवजातीके नाशके पश्चात् उस देव भाषाने आर्य देशमें अपना निवास किया। यही देव भाषा असुरादि देशोंमें भी गई थी, परंतु असुर जातीके विकृत उच्चारणोंके कारण उस देवभाषाकी विकृति असुर देशोंमें बडी ही विलक्षण हुई। इस भारत देशमें प्राकृत भाषाओंके रूपसे भी संस्कृत भाषाका विकृत रूप दिखाई देता है, उससेभी अधिक विकार असुर देशमें हुआ है यह आजकल भी देखने

वालोंको दिखाई देगा । अर्थात् देवभाषाकी विकृति भारतदेशकी आशिक्षित जनता में कुछ अंशमें दिखाई देती है और असुर देशोंमें अत्यंत हीन अवस्थामें वह विकृति दिखाई देती है ।

जिस प्रकार युरोप भर में फ्रेंच भाषाका प्रचार इस समयमें भी सिद्ध कर रहा है कि फ्रेंचों की सभ्यता एक समय सबसे अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थी और फ्रेंचोंका राजनैतिक प्रभाव भी अधिक प्रखर एक समय युरोपमें था; वही बात देवभाषाका प्रसार जो आजकल असुर देशों और आर्य देशोंमें अपभ्रष्ट रूपमें दिखाई देता है स्पष्टतासे सिद्ध कर रहा है कि देवजातीकी सभ्यता तथा राजनैतिक श्रेष्ठता अतिप्राचीन कालमें सबके लिये शिरोधार्य थी । देवजातीकी सभ्यताका प्रभाव न केवल संपूर्ण आर्यजगत् में प्रत्युत असुर जगत्में भी वंदनीय हुआ था । इस देवजातीकी सभ्यता का समय आर्य सभ्यताके पूर्वकालमें निश्चित करना चाहिये और इससे पूर्व आसुरी सभ्यता का समय है, क्यों कि असुर देवोंसे भी " पूर्व-देव" थे अर्थात् देवोंके भी पूर्वकालीन देव थे। असुरोंका नाम " पूर्व-देव " सिद्ध कर रहा है कि ये देवोंके भी प्राचीन समयके देव थे इसीलिये मानना पडता है कि देवजातीकी सभ्यता के पूर्वकालमें आसुरी सभ्यता प्रभावित हुई थी ।

देवोंका देवत्व ।

इस समय देवजातीके इंद्र मरुत् आदि नामोंके साथ विशेष प्रकारके " दैवी भावोंसे युक्त देवत्व " संबंधित हुआ है । इसलिये इंद्रादिकोंको मनुष्योंके समान मनुष्य मानना कईयों के लिये कठिन होगा । परंतु थोडे विचार के पश्चात् विदित होगा, कि यह ऐसा ही था और बडे कालके व्यतीत होनेके कारणही उसमें अधिक पवित्रता उत्पन्न हुई है । और उसी कारण ही उनका देवत्व बढ गया है ।

विभूतिपूजा हरएक जातीमें होती ही है । " विभूति " उसको कहते हैं कि जो अपनी आत्मिक शक्तिसे अपनी जातीको प्रभावित करता है । ऐसी विभूतियां हरएक जातीके लिये वंदनीय होती हैं इस समय भारत भूमिकी विभूतियां महात्मा गांधी और लोकमान्य तिलक आदि कई हैं । इनकी असामान्य आत्मिक शक्तिके कारण इस समय भी सब देशभरमें इनकी पूजा होरही है और आगे भी होती रहेगी । थोडे पूर्व समय की ओर ध्यान दीजिये तो पता लगेगा कि श्रीशिवाजी छत्रपती, रामदास स्वामी,

राणा प्रताप, गुरु गोविंद सिंह आदि विभूतियां उस समय भी पूज्य थीं, और उनके नाम इस समयमें भी मनमें नवीन उत्साह उत्पन्न करनेकी शक्ति रखते हैं। जितना समय व्यतीत होता है उतनी पवित्रता अथवा उतनी क्रूरता विकसित होती जाती है। रावण और कौरवोंकी क्रूरता तथा रामचंद्र और पांडवोंकी पवित्रता बढ जानेका हेतु कालके अंदर है। कथाएं कहते कहते प्रत्येक गुण बढाया जाता है, कहनेवाला नमक मिरच अपनी ओर से थोडी थोडी लगा देता है और इस प्रकार कथाएं रसदार और रोचक बनती जाती हैं। इस का सब परिणाम जनता पर इष्टही होता है और उक्तकारण ऐसा होना बुरा नहीं है, परंतु जिस समय अत्यधिक काल व्यतीत हो जानेपर उन-कथाओंका इतिहासिक सत्त्व भी नष्ट हो जाता है उस समय परीक्षण करना और इस बातका निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि इसमें इतिहासिक सत्य कितना है और बाहरसे मिलाई हुई बातें कितनी हैं।

इतिहासिक काव्य लिखने वाले कविभी अपनी ओर से रोचकता बढाने के कारण गुणोंका विकास करके अपने काव्य लिखते हैं और अपने इष्ट देवका महत्त्व बढाते हैं। इस प्रकार की विविध बातें हैं कि जो विभूतिका महत्त्व बढाती हैं और अंत में उस विभूतिको देवोंके अंदर ले जाकर उसका स्थान देवमंडली में निश्चित कर देती हैं। इस रीतिसे मानवी विभूतियां कालांतरके पश्चात् देवमालिकामें संमिलित होजाती हैं। पहिले हमने बताया ही है कि "मरुत्" लोग पाहिले मानव थे, परंतु पश्चात् उनकी गणना देवोंमें हुई। इसी प्रकार इंद्र आदि देवोंके विषयमें समझना उचित है, इस विषयमें एक विशेष प्राचीन रीतिका भी विचार करना चाहिये वह विशेष रीति "शतक्रतु" शब्द द्वारा बताई जाती है—

शतक्रतु ।

देवजातीकी शासन संस्थाका यह नियम था कि जो सौ यज्ञ करेगा वह इंद्र बनेगा। इंद्र चुना जाताथा और सौ यज्ञ करना ही उसका मुख्य गुण समझा जाता था। देवों के राजाको इंद्र कहा जाता था और यह इंद्रपद खानदानी नहीं था। परंतु एकके प-श्चात् दूसरा, दूसरेके पीछे तीसरा इसे प्रकार "शतक्रतु" नरश्रेष्ठ इंद्र पद पर आजाते थे। इस रीतिसे भारतवर्षीय आर्य राजा नहुष, आदि भी इंद्रपद के लिये योग्य समझे गये थे।

इंद्रका चुनाव।

देवोंका राजा इंद्र न केवल खानदानी नहीं था प्रत्युत अपने जीवनकी अवधितक भी स्थायी न था। जिस किसी समय उससे विशेष अपराध हो जाता था, उस समय उसको न केवल इंद्र पदसे हटाया जाता था, प्रत्युत स्वर्गसे भी भ्रष्ट किया जाता था। अर्थात् देवराष्ट्रसे बाहर निकाला जाता था। इस नियमके अनुकूल कई इंद्र बाहर निकाले भी थे उनके वृत्तान्त पुराणोंमें लिखे मिलते हैं।

नहुष आदि इन्द्रोंका पतन उक्त नियमके अनुकूल ही हुआ था। यहां "पतन" का अर्थ त्रिविष्टपके ऊंचे स्थानसे भारतके निम्न स्थानमें अधःपात। इनकी कथाएं देखनेसे पता चलता है कि देवोंके राजाका स्थान खानदानी न था और न आयुभर के लिये था, परंतु जिस समय तक गुणकर्मधर्मानुसार वह इंद्र पदके लिये योग्य समझा जाता था तबतक ही वह इंद्रपद पर रहता हुआ देवोंपर शासन कर सकता था। किसी किसी समय ऐन युद्ध प्रसंगके समय देवोंका वारंवार पराभव होने लगा तो भी इंद्रपद दूसरे को दिया जाता था। तात्पर्य इंद्रपद न तो खान दानी था और न आयुभर के लिये था। परंतु जबतक वह इंद्र अपना कार्य योग्य रीतिसे करता था तबतक ही उस को वह सन्मान प्राप्त होता था। इस प्रवृत्तिके कारण इंद्रपद पर कार्य करनेवाला बडा प्रभाव शाली और दक्ष होता था और ऐसी योग्य रीतिसे शासन करता था कि सदा उसके शासन से देव संतुष्ट रहें और उसके विरुद्ध आवाज कोई भी न उठावे।

देवोंकी जो यह रीति थी कि नियमविरुद्ध चलनेवाले इंद्रको इंद्रपदपर से हटाकर देवोंके राज्यसे बाहर करना, उत्तम रीति थी। इससे हटाया हुआ इंद्र देवोंके राज्यमें रह कर अपने पक्ष प्रतिपक्ष बना कर अधिक फिसाद करनेका हेतु नहीं बन सकता था। यह एक राजनैतिक आवश्यक बात देवोंके राज्यशासनमें थी, जिसका हेतु और भी अन्य रीतिसे देखना आवश्यक है।

देवों में गण संस्था थी, इस विषयका वर्णन पूर्व स्थलपर आया हुआ ही है। अनेक गण होनेके कारण हरएक गण अपने गणके हिताहित की दृष्टिसे देखने लगा तो कोई वह बात अस्वाभाविक मानी नहीं जायगी। आजकलकी हिंदू जातिव्यवस्थामें

जिस प्रकार हरएक जातिवाला मनुष्य अपनी जातिकी दृष्टीसे ही देखता है और संपूर्ण हिंदु समाज की दृष्टिसे कोई नहीं देखता; उसी प्रकार देवोंकी गण संस्थामें भी वही दोष था । इस कारण देवोंके गणोंमें परस्पर विद्वेष, झगडे, फिसाद आदि थे और समय समयपर बढभी जाते थे । और असुर लोगों का विजय इन देवोंके आपसके फिसाद के कारण हो जाता था । असुरोंसे परास्त होनेपर देव आपसमें संघटण करते थे और अपना बल बढाते थे और असुरोंपर विजय प्राप्त करते थे इसके वर्णन ब्राह्मण ग्रंथोंमें और पुराणों भी बहुत हैं ।

(१) ते चतुर्धा व्यद्रावन्, अन्योन्यस्य श्रिया आतिष्ठ-
माना अग्निर्वसुभिः, सोमो रुद्रैः, वरुण आदित्यैः,
इंद्रो मरुद्भिः, बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः ।

(२) तान्विद्रुतानसुररक्षसान्यनुव्यवेयुः ॥ १ ॥

(३) ते विदुः पापीयांसो वै भवामोऽसुररक्षसानि
वै नोऽनुव्यवागुः द्विषद्भ्यो वै रध्यामः ।

(४) हंत संजानामहा, एकस्य श्रियै तिष्ठामहा इति ।

श. ब्रा. ३ । ४ । २ । २

(५) ते होचुः । हन्तेदं तथा करवामहै, यथा न इदमाप्रादि-
वमेवाजय्यमसदिति ॥

(६) ते इंद्रस्य श्रिया अतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा
देवता, इन्द्रश्रेष्ठा देवाः ।

श. ब्रा. ३ । ४ । २ । १—४

(१) उनके चार पक्ष बनगये, वे एक दूसरेकी शोभासे असंतुष्ट हुए; अग्नि वसु-ओंसे, सोम रुद्रोंसे, वरुण आदित्योंसे, इंद्र मरुतोंसे और बृहस्पति विश्वेदेवोंसे । (२) वे परस्परोंका द्वेष कर रहे हैं यह देख कर असुर और राक्षस उनपर हमला करने लगे । (३) तब उन देवोंके समझमें बात आगई कि हम मूर्ख बन गये, और असुर राक्षस हमपर हमला चढाते हैं और हम न सुधरे तो शत्रुओंसे हम पीसे जांयगे । (४) तब उन्होंने निश्चय किया कि हम संगठन करेंगे, और परस्पर की शोभा बढाने के

कामसें लगेंगे। (५) वे कहने लगे कि हम वैसा करें कि जिससे यह (संघटन) कभी न टूटे अर्थात् हमेशा रहनेवाला हो, (६) वे इंद्रकी श्री के लिये खडे हो गये, इसी लिये कहते हैं कि इंद्रही सब देवता हैं।"

ब्राह्मणग्रंथों में इस प्रकार की कई कथाएं हैं और यही ध्वनि पुराणों और इतिहासों में आया है, इस से सिद्ध है कि देवोंके गणों में आपस में झगडे बहुत थे इस कारण उनमें राष्ट्रीय कमजोरी भी बहुत थी। अतः वे समय समयपर आपसमें संघटन करते थे और अपना सांघिक बल बढाते थे और अपने शत्रुओं का मुकाबला करते थे। गण-संस्थाके कारण गणोंके अंदर यद्यपि सांघिक बल था तथापि गणोंका परस्पर आपसमें झगडा और फिसाद होनेके कारण सब देवजातीमें जैसा चाहिये वैसा बल न था। तथापि शत्रु उत्पन्न होने पर वे आपस में समझौता कर लेते थे और अपनी संघटना करके शत्रुको भगा देते थे। इस समयके भारतवासियों में गणदेवोंके समान आपसकी फूट तो है परंतु शत्रु उत्पन्न होने पर आपस में समझौता करने की अकल नहीं है। अस्तु। भारतीय हिंदुओंका जातिभेद और त्रिविष्टपीय देवोंका गणभेद करीब एक जैसा ही है, इतनाही नहीं प्रत्युत विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय आर्यों-का जातिभेद देवोंके गणभेद की ही बुरी नकल है। अस्तु। यह विषय इस लिये यहां लाया गया कि देवजातीके लोग अपने इंद्रको राज्यभ्रष्ट करने पर देव राज्यसे अलग क्यों करते थे, इसका कारण विदित हो। मान लीजिये कि पदभ्रष्ट इंद्रको देवों-ने अपने देवराष्ट्रमें ही रहने दिया तो क्या होना संभव था? राज्यपदके लोभके कारण इंद्र वहांही रहता हुआ देवोंके कई गणोंको अपने वशमें करता हुआ युद्धके लिये प्रवृत्त होना उसके लिये कठिन न था। इस समय जर्मन देशमें देखिये- जर्मनके बादशहा कैसर को जर्मन प्रजाने अलग किया है, वह भी दूसरे देशमें इस समय रहता है, और दूसरे देशमें रहता हुआ जर्मन देशमें अपने मित्रोंद्वारा अपने लिये राज गद्दी मिल जाय इस विषयकी युक्तियां कर रहा है। ऐसा ही कई अन्य देशके राज्यपदभ्रष्ट राजाओंने किया था। अमरिकामें तो जनपद निर्वाचित अध्यक्ष होता है, परंतु वह भी अध्यक्ष-पदको छोडनेपर यदि जीवित रहा तो दूसरे अध्यक्ष को किसी किसी समय कष्ट देने का यत्न करता रहता है। यह इतिहासकी साक्षी है। देवोंका निर्वाचित अध्यक्ष इंद्र भी इस नियमका अपवाद समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है और इसीलिये देवजाती ने यह सोचा था कि देवराज्यसे भ्रष्ट हुआ इंद्र देवराज्यसे हटाकर भारतवर्ष में लाकर

उसको छोडदेना, क्यों कि भारतवर्ष में गिरा हुआ इंद्र देवोंको कोई उपद्रव दे नहीं सकता, इसका कारण स्पष्ट है कि भारत वासी देवों के अनुगामी थे और विरोधी नहीं थे ।

देवोंके पदच्युत इंद्रको असुरादि देशोंमें भेजा नहीं जाता था प्रत्युत उसको भारतवर्षमें ही भेजा जाता था । इस का कारण स्पष्ट ही है कि पदच्युत इंद्र अपने शत्रु असुरोंके साथ मिलकर अपने उपद्रवका कारण न बने । इस विषयमें मलबार की एक प्रथा भी यहां विशेष विचारणीय है । वहां भी बारह वर्षोंके लिये एक अध्यक्ष चुना जाता था, क्यों कि प्राचीन समयमें किंवा मध्य इतिहासिक समयमें मलबार में प्रजासत्ताक राज्य था और वहां का अध्यक्ष बारह वर्षोंके लिये ही चुना जाता था । बारह वर्ष होने के पश्चात् उसको हटाया जाता था और दूसरा अध्यक्ष बनाया जाता था । दूसरा अध्यक्ष राजगद्दीपर आतेही पहिले हटाये हुए अध्यक्ष की गर्दन काटी जाती थी ! इस पद्धति का हेतु भी यही था कि यह हटाया हुआ अध्यक्ष आगे चलकर राज्यको उपद्रव देनेवाला न बने । गर्दन कटनेसे तो सर्वथा उपद्रव की संभावना ही दूर हो जाती है । देवजाती का इंद्रको राज्यसे बाहर करनेका नियम बडा ही सौम्य नियम था और इस नियमके होते हुएभी पदच्युत इंद्र पुनः इंद्रपदकी प्राप्तिके उपाय करते ही रहते थे । इस विषयमें उद्योगपर्व में नहुष राजाकी कथा देखिये । नहुष के इन्द्र बननेके पश्चात् पहिले इन्द्रने अपने पीछे आये हुए इन्द्रको गिराने और अपनेको इन्द्रपद पुनः मिलनेके लिये बडा यत्न किया था । और वह सफल भी हुआ था । इस प्रकार पदच्युत हुए राजा लोग यत्न करते हैं और राज्यमें पक्षभेद और आपसके युद्ध खडे होते हैं । इस आपत्तिसे बचनेके लिये कई राज्यपद्धतियों में अनेक नियम घडे हैं और उक्त आपत्तिसे बचनेका यत्न किया है; देवोंकी राज्यपद्धतिमें इसी हेतु पूर्वोक्त नियम था ।

इंद्र और उपेन्द्र ।

जिस प्रकार अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होते हैं , मंत्री और उपमंत्री होते हैं, उसी प्रकार इंद्र और उपेन्द्र भी होते थे, इसका वर्णन पाठक निम्न श्लोकमें देख सकते हैं –

विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुंठो विष्टरश्रवाः ॥ १८ ॥
उपेन्द्र इंद्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः ॥ २० ॥

अमरकोष १ । १

"विष्णु, नारायण, कृष्ण, वैकुंठ, विष्टरश्रवाः, उपेन्द्र, इन्द्रावरज, चक्रपाणि, चतुर्भुज।" ये सब नाम विष्णुके हैं और इनके नामोंमें "उपेन्द्र, इन्द्रावरज" ये नाम इनका उपाध्यक्ष होना सिद्ध कर रहे हैं। इंद्र स्वयं देवोंके अध्यक्ष और ये उपेन्द्र देवों के उपाध्यक्ष थे। उपेन्द्र इन्द्रकी अपेक्षा छोटा था यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि वह बात उक्त शब्दों से ही सिद्ध हो रही है। तथापि "इन्द्र+अवर+ज" यह उसका नामही सिद्ध कर रहा है कि यह विष्णु इन्द्रसे छोटा है और इन्द्रके पीछे बनाया जाता है। "इन्द्रावरज" शब्द इन्द्रसे छोटे उपाध्यक्षकाही भाव बताता है। आजकल विष्णुका मान इन्द्रसे भी अधिक समझा जाता है, परंतु वास्तवमें अध्यक्षके सन्मुख जितना मान उपाध्यक्षका होना संभव है, उतना ही मान इन्द्रके सामने उपेन्द्रका होना संभव है। परंतु यहां यह बात स्पष्ट होती है कि देवोंके राजा मुख्य इंद्र सम्राट् भारतवर्षमें बहुत कम आते थे, भारतवर्षमें आना और यहां का कार्यप्रबंध देखना यह कार्य "उपेंद्र" का होता था। यह बात विष्णुके कई नाम देखने से स्पष्ट होती है:—

नारायण।

नारायण शब्दका अर्थ इस विषयपर बडा प्रकाश डाल रहा है। इसका अर्थ यह है— (नारे) नरोंके मनुष्यों के संघोंमें जिसका (अयन) गमन होता है, उसका नाम नारायण है। मनुष्योंके संघों में जानेका कार्य उपेन्द्रके आधीन था। जिस प्रकार इस समयके भारतीय सम्राट् हिंदुस्थानमें बहुत कम आते हैं, परंतु उनका यहां का कार्य भारत सचीव अथवा बडे लाट साहेब करते हैं, ठीक उस प्रकार देव सम्राट् भगवान् इन्द्र स्वयं यहां कम आया करते थे, परंतु यहां का सब कार्य उपेंद्र अर्थात् विष्णुदेव के सुपुर्द था, और इसी कारण उसका नाम "नारायण" (नर समूहोंमें गमन करनेवाला) था। इस नामका यह अर्थ बिलकुल स्पष्ट है और यह उस समय की राजकीय अवस्था स्पष्ट बता रहा है।

नराणां समूहो नारं तदयनं यस्य।

अमरटीका (भट्टोजी०) १।१।१८

नरा अयनं यस्य। अमरटीका १।१।१८

आपो नारा इति प्रोक्ता नारा वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः प्रोक्तास्तेन नारायणः स्मृतः।

मनु. १ । १

(१) नरों के समूहमें जाने वाला, (२) मनुष्योंमें जानेका स्थान है जिसका, वह नारायण कहलाता है, (३) .... नारा का अर्थ है नरोंके पुत्र, उन में जिसका गमन है उसको नारायण कहते हैं ।

इन सब अर्थोंका तात्पर्य यही है कि जो उपेन्द्र मनुष्यों के समूहों में आता जाता रहता है उसको नारायण कहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि देवोंके अध्यक्ष इंद्र तो मानवोंके देशमें आते जाते नहीं थे अथवा कम आते जाते होंगे । परंतु यहां आने जानेका कार्य उपाध्यक्ष अर्थात् उपेन्द्रका ही था । उपेन्द्र, इंद्रावरज (छोटा इंद्र, इंद्रसे छोटा अधिकारी), नारायण, विष्णु आदि नाम एकही व्यक्ति के हैं । पुराणोंमें हमेशा नारायण भूमिके निवासियोंके दुःख हरण करता है, ऐसी कथाएं बहुतसीं हैं, इस कथाभाग का तात्पर्य यही है कि पूर्वोक्त देव राज्यके उपाध्यक्ष यहां आते थे और भारतवर्षके निवासियों की रक्षा असुरराक्षसादिकोंका पराभव करके करते थे । इस लिये इंद्र की अपेक्षा नारायण उपेन्द्रपर प्रेम भारतनिवासियों का अधिक था । क्यों कि इन्हीका साक्षात् संबंध भारतीयोंसे सदा होता था और भारतीय जनता अपने दुःख इनके पास जाकर ही सुनाती थी, भगवान् सम्राट् इंद्रके पास साधारण जनताकी पहुंच नहीं थी । इसी लिये अन्य देवोंकी अपेक्षा उपेन्द्र नारायण पर भारतीय जनताकी भक्ति अधिक थी । ब्रह्मलोक किंवा ब्रह्मदेश के ब्रह्मदेव, भूतलोक किंवा भूतानके ईश महादेव येभी नारायण उपेन्द्रकी ही शरण लेते थे और उनकी प्रार्थना करते थे कि " आप कृपा करके भूमि निवासीयोंकी रक्षा करें । " क्यों कि सब जानते थे कि ये ही सबसे अधिक सामर्थ्यवान हैं और आर्यावर्त में सदा आने जानेके कारण वहां की अवस्थाका उनको ही पूरा पता है । भूमि, हिमगिरी की चढाई और ऊपरला त्रिविष्टप प्रदेश इन तीनों प्रदेशों में विक्रम अर्थात् पराक्रम ये करते थे इसीलिये इनको "त्रि-विक्रम" नाम था । पूर्वोक्त तीनों स्थानोंको "त्रिपथ" किंवा तीन मार्ग कहा जाता था । भारतका भूपथ, हिमालयका गिरिपथ और त्रिविष्टपका द्युपथ ये तीन पथ अर्थात् तीन मार्ग थे, इन पथोंसे गुजरनेके कारण ही गंगा नदी का नाम "त्रि-पथ-गा" अर्थात् पूर्वोक्त तीनों मार्गोंसे गुजरनेवाली नदी है । इन तीनों प्रदेशोंमें विक्रम करनेवाले पूर्वोक्त उपेन्द्र ही थे । इस कार्य के लिये देवोंके मुख्य इंद्रको फुरसद नहीं थी । अब हमें देखना चाहिये, कि उपेन्द्र विष्णु किस युक्तिसे यह कार्य करते थे—

विष्वक्सेन ।

उक्त बात पूर्णतासे ध्यान में आनेके लिये " विष्वक्सेन " यह विष्णु का अथवा उपेन्द्रका नाम बडा सहाय्यकारी है । इस शब्दका अर्थ यह है कि " जिसकी सेनाएं चारों ओर थोडी थोडी विभक्त हुई हैं । " चारों दिशाओं में जितने देश हैं उन में जिसकी सेनाएं खडी हैं । अर्थात् यह उपेन्द्र अपने स्थानमें रहता हुआ अपनी विविध सेनाओंद्वारा संपूर्ण देशका संरक्षण करता था । जिस प्रकार इस समय अंग्रेजोंकी सेनाएं भारत वर्षमें कई स्थानोंमें रखी जाती हैं और उनके द्वारा सब देशकी रक्षाका प्रबंध करनेकी योजना की गई है, उसी प्रकार देवोंके उपाध्यक्ष उपेन्द्र महाराज अपनी विविध स्थानों में रखीः हुई सेनाओंद्वारा भारतवर्षकी जनताकी रक्षा करते थे । उपेन्द्रको अर्थात् विष्णुको मानवोंका रक्षक माना है इसका कारण यही प्रतीत होता है । ब्रह्मदेव विष्णु और महादेव ये तीन देव त्रिदेवोंके अंदर हैं, उनमेंसे विष्णु ही उपेन्द्र है और सबकी रक्षा करने वाले हैं । ब्रह्मदेव का राष्ट्र ब्रह्मदेश ही है क्यों कि इसकी पूर्व दिशा मानी गई है । महादेव का स्थान कैलास पर्वत सुप्रसिद्ध है और इस उपेन्द्र विष्णुका स्थान किसी हिमालय की पहाडी में होना संभव है, जिसका उस समयका नाम वैकुंठलोक सुप्रसिद्ध है । इस स्थान में रहता हुआ उपेन्द्र जैसा अपना विक्रम भारत भूमिपर करता था उसीप्रकार तिब्बत में भी जाकर करता था । जिस प्रकार मुख्य राजाकी अपेक्षा उसका मुख्य सचिव विशेष राजकारणपटु होता है अथवा होना चाहिये उसी प्रकार उपेन्द्र विष्णु देवोंके इन्द्र सम्राट् की अपेक्षा पुराणों में अधिक राजनीतिज्ञ बताया है । कमसे कम भारत वासियोंके हित संबंध को देख कर हम कह सकते हैं कि भारतवासीयोंके लिये उपेन्द्र ही अधिक सहायता करते थे और हरएक प्रकारसे लाभ कारी होते थे । इसी लिये हरएक कठिन प्रसंगमें भारतवासी विष्णुकी ही शरण लेते थे ।

उपेन्द्र के अन्य नाम ।

विष्णु — (उपेन्द्र)--के नाम अनेक हैं जो महाभारतमें प्रसिद्ध हैं उनमें निम्न लिखित नाम इस प्रसंगमें विचार करने योग्य हैं—

१ (मेदिनीपतिः) पृथ्वीका राजा, (क्षितीशः) भूमिका मालिक, ये शब्द "भूपति" अर्थ बता रहे हैं ।

२ (लोकाध्यक्षः) लोकोंका अध्यक्ष, (लोकस्वामी) लोकोंका स्वामी, (लोक-नाथ) लोकोंका नाथ, (लोकबंधु) जनताका भाई ये शब्द इसके साथ जनताका संबंध बता रहे हैं ।

३ (सुराध्यक्षः) सुरोंका अध्यक्ष, (त्रिदशाध्यक्षः) देवोंका प्रधान ये शब्द इसके अध्यक्ष किंवा उपाध्यक्ष होनेकी सूचना कर रहे हैं ।

४ (धर्माध्यक्षः) धर्म की रक्षा करनेवाला, धर्म विषयक सब प्रबंध करनेवाला ये शब्द इसका धार्मिक कार्य क्षेत्र बता रहे हैं ।

५ (इंद्रकर्मा) इंद्रके कार्य करनेवाला यह शब्द उपेंद्रके कर्म इंद्रके समान हैं यह आशय व्यक्त कर रहा है ।

६ (अग्रणी) मुखिया, (ग्रामणी) ग्रामका नेता ये शब्द इसका ग्रामोंका अधिकारी होना सिद्ध कर रहे हैं ।

७ (महाबलः) बडे सैन्य से युक्त, (सु-षेणः) उत्तम सेनासे युक्त ये शब्द इसके सैन्यके बलके द्योतक हैं ।

८ विशेष सैन्यसे युक्त होनेके कारण ही यह (जेता) विजयी, (समितिंजयः) युद्धमें विजयी और (अपराजितः) कभी पराभूत न होने वाला है ।

९ (महोत्साहः) बडे उत्साह से युक्त, (सुरानंदः) देवोंको आनंद देनेवाला (शा-स्ता) उत्तम राज शासन करनेवाला, ये नाम भी पूर्व नामों के साथ ही पढने योग्य हैं ।

१० (वीरहा) शत्रुके बडे वीरोंका नाश करनेवाला, (नैकमायः) अनेक कार्य कुशलताके साथ करनेवाला ये शब्द उसका कार्य कौशल बता रहे हैं ।

इस प्रकार उपेन्द्र के नाम जो महाभारतके अनुशासनपर्वमें प्रसिद्ध हैं देखनेसे उस-के कार्य का पता लगता है । इससे भी इनके बहुतसे नाम हैं जो इनके अन्यान्य गुणों का वर्णन कर रहे हैं उन सबको यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उपेन्द्रके कार्य ।

उपेन्द्र विष्णु के नामोंमें "दैत्यारि, मधुरिपु, बलिध्वंसी, कंसाराति, कैटभजित्, " इत्यादि नाम उसके कार्य के दर्शक हैं । दैत्योंका पराभव इन्होंनें किया था, मधु, बलि, कंस, कैटभ आदि दुष्टोंका इन्होंने नाश किया था । इन नामोंके अतिरिक्त इनके बहुत

से नाम प्रसिद्ध हैं कि जो इनके कार्योंके द्योतक हैं । उन सबका यहां विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । यदि पाठक उन नामोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त बातका पता लग सकता है ।

इन्द्रके नामोंका विचार करनेसे इसी प्रकार उनके कार्योंका पता लग सकता है । वृत्रादि राक्षसोंका वध करना तथा देवों और आर्योंकी रक्षा करना इनका प्रधान कार्य था और यही इतिहासों और पुराणोंमें विविध कथा प्रसंगोंसे व्यक्त किया है इस लिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भूतनाथ ।

पूर्वोक्त लेखमें उपेन्द्र अर्थात् विष्णुका विचार किया अब उसके साथ वाले भूतनाथ महादेवका विचार करना है । महादेवके नामोंमें भूतनाथ, भूतेश, भूतपति आदि नाम सुप्रसिद्ध हैं । "भूत नामक जातीका एक राजा" इतनाही भाव ये शब्द बता रहे हैं । भूत नामक जातीका राष्ट्र भूतान किंवा भूतस्थान है । यह जाती इस समय में भी अपने भूतानमें विद्यमान है इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। इस भूतजातीके राजा महादेव नामसे प्रसिद्ध थे । यद्यपि आजकल का भूतान छोटासा प्रदेश है तथापि प्राचीन कालमें और इस समयमें भी ये भूतिया लोग तिब्बतके दक्षिण भागमें रहते थे और रहते हैं। इसी कारण उनके राजा महादेवने अपनी राजगद्दी मान-स तालके समीपवाले कैलास पर्वतपर अथवा कैलासके पास बनाई थी । यहां रहते हुए भूतनाथ महादेव सम्राट् अपना शासन पूर्व दिशामें भूतानपर तथा पश्चिम दिशामें पिशा-च जातपिर करते थे ।

"गिरीश" इसका नाम स्पष्टतासे बता रहा है कि यह पहाडीपर रहनेवाला राजा था । गिरी अर्थात् पहाडीका राजा गिरीश कहलाता है । इसकी धर्मपत्नी भी पार्वती नामसे प्रसिद्ध है । "पार्वती" शब्द यही भाव बताता है कि यह पहाडी स्त्री थी । पहाडी राजा का विवाह पहाडी स्त्रीसे होना ही स्वाभाविक है ।

इस महादेव का काल निश्चित करना चाहिये । इसका काल निर्णय हम इनके नामों से और इनके व्यवहारसे कर सकते हैं—

कृत्तिवासाः ।

यह शब्द इस कार्य के लिये बडा उपयोगी है। इसका अर्थ यह है- " कृत्तिः चर्म वासः यस्य। " जिस का कपडा चर्म ही है अर्थात् कपडे का कार्य चमडेसे करने वाला अथवा चमडे को कपडे के समान पहनने वाला यह महादेव था। यह कृत्ति शब्द यद्यपि सामान्यतया चमडे का वाचक है तथापि हाथीके या हिरन के कच्चे चमडेका वाचक मुख्यतया है। उक्त पशुको मार कर उसका चमडा उतारकर उसी कच्चे चमडे को पहनना इस शब्द से व्यक्त होता है। पाठक ही विचार कर सकते हैं कि यह भूतानी राजाकी रहने सहने की पद्धति सभ्यता के किस स्थानपर होना संभव है। हमारा तो यह विचार है कि कपास के या ऊनके कपडे बुनने और पहनने की प्रथा शुरू होनेके पूर्व युग का यह वर्णन है, क्यों कि जो मनुष्य एक बार ऊनी या सूती कपडे पहननेकी सभ्यतामें आगये वे कच्चा चमडा पहनने के पूर्व युगमें जा ही नहीं सकते, मनुष्य कितनी भी उदासीनतामें रंगा क्यों न हो वह कच्चा चमडा पहन ही नहीं सकता यदि एक बार वह कपडोंकी सभ्यतामें आगया हो। महादेव के वर्णन में उस चमडेसे रक्त की बूंदें चारों ओर टपकनेका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि वह बिलकुल कच्चा चमडाही पहनता था। कई दिनोंके पश्चात् वही चमडा सूख जाना भी संभव है, परंतु यह शब्द उस समय की सभ्यताकी दशाका वर्णन स्पष्टतासे कर रहा है, इसमें किसीको कोई शंका हो ही नहीं सकती। भूतानकी उस समयकी ही यह सभ्यता मानना उचित है क्यों कि अन्य लोगोंसे राजाकी अवस्था कुछ अच्छीही होना सदा ही संभवनीय है और जिनका राजा ही कच्चा चमडा पहनता है उन लोगोंकी सभ्यता की अवस्था उससे अच्छी माननेका कोई कारण नहीं है। अस्तु। अब इस शब्द के साथ ही "कपाल-भृत्" शब्द देखना चाहिये-

कपालभृत् ।

" कपालभृत्, कपाली, कपालधारी " आदि शब्द समानार्थक ही हैं। कपाल अर्थात् खोपडी हाथमें धारण करने वाला। हाथमें बर्तन के स्थानमें खोपडी का उपयोग करने वाला। यह रिवाज भी पूर्वोक्त अवस्थाकी ही सूचना करता है। जो कच्चा चमडा

पहननेवाला है वही खोपडीके बर्तन उपयोग में ला सकता है । दूसरा नहीं लायेगा । मिट्टी, तांबे, पीतलके बर्तनोंका संबंध ऊनी या सूती कपडों के साथ ही है। जिस सभ्यतामें कपडोंका स्थान चमडेने लिया है उसी में बर्तनोंका स्थान खोपडी ले सकती है ।

इसीके साथ " रुण्डमाला धारी " यह शब्द भी देखने योग्य है, खोपडीयों अथवा हड्डियोंकी माला पहनने वाला, हड्डियों के टूकडे ही आभूषणोंके स्थानमें बरतनेवाला । यह शब्द भी पूर्वोक्त सभ्यताके युगका सूचक है ।

इसके साथ " खड्वांगपाणि " शब्द देखने योग्य है । इसका अर्थ है— " खाटिया का भाग हाथमें धारण करने वाला " अर्थात् शस्त्रके रूपमें खाटियाकी लकडी बर्तने वाला। इस शब्दके साथ बलरामजी का वाचक " मुसली, हली, हलायुध " आदि शब्द भी विचार करने योग्य हैं । चावल साफ करनेका मुसल, भूमि हलनेका हल इनके शस्त्र बर्तने वाला बलराम था। अर्थात् साधारण घरके कार्य में आनेवाले पदार्थ मुसल, हल या चारपाई आदि उन्हीं को शस्त्र के स्थान पर बर्तने वाला । हल का उपयोग शस्त्र के समान करने के लिये तथा चारपाई का उपयोग शस्त्रके समान करनेके लिये प्रचंड शक्ति चाहिये इसमें संदेह नहीं है, परंतु यहां हम देख रहे हैं कि जो सभ्यता विविध साधनों के बर्तनेके कारण समझी जाती है उस सभ्यता की अपेक्षा इनकी सभ्यता किस दर्जेपर थी । विचार करनेपर पता लग सकता है कि ये महापुरुष उस सभ्यताके समयके हैं कि जिस समय लोग वस्त्रोंके स्थानपर खोपडीयां बर्ती जाती थीं और शस्त्रोंके स्थानपर चारपाई की लकडियां भी उपयोग में लाते थे ।

यद्यपि महादेव के शस्त्रास्त्रों में हम देखते हैं कि उनके पास " परशु, त्रिशूल, धनुष्य बाण, तथा अन्य शस्त्र " थे " पाशुपतास्त्र " नामक बडा तेजस्वी अस्त्र महादेव के पास था, तथापि साथ साथ हम पूर्वोक्त शब्दोंको भी भूल नहीं सकते । पांडवोंका अर्जुन वीर महादेवके पास शस्त्रास्त्र सीखने के लिये जाता है और उनसे शस्त्र प्राप्त करके अपने आपको अधिक बलवान अनुभव करता है । इत्यादि बातें भी इस समय विचार कोटीमें लानी चाहियें । परशु, त्रिशूल, बाण ये शस्त्र अच्छा पुलाद बनानेवालोंका युग बता रहे हैं । और पूर्वोक्त " कृत्तिवासाः " आदि शब्द बहुत पूर्वकालकी ओर हमें ले जा रहे हैं । इस लिये हम अनुमान के लिये दोनों युगोंके मध्यका काल इस सभ्यताके लिये मान सकते हैं ।

भूमिपर एक ही समय विभिन्न अवस्थाओंकी सभ्यताएं विभिन्न देशोंमें रहती हैं। देखिये इस समय युरपमें विमानों और मोटारों की सभ्यता है, भारतमें बैलगाडी की सभ्यता है और तिब्बत में पैदल चलनेकी सभ्यता है। परंतु भारतवर्षमें युरोपीयनोंके कारण विमान और मोटारें आतीं हैं और कई धनी भारतीय लोग भी मोटारों की सवारी उपभोगते हैं। तथापि यह माना नहीं जायगा कि इस समय भारतकी सभ्यता मोटारों की है, क्यों कि यहां भारतीयोंकी बुद्धिमत्तासे मोटारें तो क्या परंतु मोटारका एक भी भाग बनता नहीं है। इसी प्रकार आफ्रिडी लोग युरोपकी उत्तम बंदूकें बर्तते हैं, परंतु वे स्वयं उन बंदूकों को बना नहीं सकते। पठाण लोग स्वयं करीब कच्चे चमडे की सभ्यतासे थोडे ऊपर रहते हुए भी विमानों के युग की बंदुकें बर्त सकते हैं। इसका कारण यही है कि अन्य देशके बने हुए पदार्थ दूसरे देश में लाये जाते हैं और वहां उसका उपयोग किया जाता है इसी प्रकार भूतीया लोग बहुत प्राचीन कालमें कच्चे चमडे बर्तने की अवस्था में रहते हुए भी बाहर के देश से बनें हुए पुलाद आदि लाकर कुछ प्रयोग विशेषसे अपने शस्त्रास्त्र बनाते होंगे। परशु, त्रिशूल, बाण और पाशुपतास्त्र के उपयोग के कारण उनकी सभ्यता का दर्जा बहुत ऊंचा मानना कठिण है। क्यों कि इनके साथ साथ, कच्चे चमडोंका कपडोंके समान उपयोग, खोपडी का बर्तनोंके समान उपयोग, हड्डीयोंका आभूषणों के समान उपयोग करनेकी प्रथा भी उनका विशिष्ट दर्जा निश्चित करती है। भूत और पिशाच जातिके लोग उस समय के असभ्य अवस्थाके लोग थे, यह बात महाभारतादि ग्रंथ पढनेसे उसी समय ध्यान में आजाती है, परंतु महादेवादि वीर महापुरुष उनसे विशेष उच्च अवस्थापर मानना योग्य है क्यों कि इनकी मान्यता अन्य रीतिसे भी उस समय सबको मान्य हुई थी।

क्रतुध्वंसी।

महादेव का विचार करनेके समय उसका यज्ञविध्वंसक गुण भी देखना चाहिये। " क्रतु -ध्वंसी " शब्दका अर्थ यज्ञ का नाश करने वाला है। महादेव यज्ञका नाशक प्रसिद्ध है। दक्षप्रजापतिके यज्ञका नाश उसने किया था। दक्षप्रजापति उसका संबंधी भी था। यज्ञका विध्वंस करनेके हेतु इस महादेव के विषयमें थोडी शंका उत्पन्न होती है और वह शंका दृढ होती है कि जिस समय हम देखते हैं कि महादेव सदा असुरों

और राक्षसोंकी सहायता करता है। बाणासुरादिकों को महादेव की सहायता हुई थी और उसी कारण देवों और आर्योंको बडे कष्ट हुए थे। बाणासुर जैसे बीसियों राक्षसों को महादेव से सहायता मिलती थी और इस कारण वे प्रबल होकर देवों और आर्योंको सताते थे। महादेव का यज्ञविध्वंस करनेका स्वभाव और असुरोंको देवों और आर्योंके विरुद्ध प्रबल बनाने की राजनीति स्पष्ट सिद्ध कर रही है कि ये प्रारंभमें न तो देवोंके पक्षपाती थे और न आर्योंके सहायक थे। परंतु बहुत समय तक अपने ढंगसे चलने वाले स्वतंत्र और देवों या आर्योंके कल्याण के विषयमें पूर्ण उदासीन ही रहे थे। परंतु उपेन्द्र विष्णु के प्रयत्न से अनेक वार असफलता प्राप्त होनेके कारण महादेवने अपने आपको देवोंके पक्षमें रखना योग्य समझा और तत्पश्चात् उनसे देवों और आर्योंको कोई कष्ट नहीं हुए। अर्थात् ये पूर्व आयुमें राक्षसोंके सहायक थे परंतु पश्चात् की वृद्धावस्थामें देवों और आर्योंके हितकारी बन गये।

यज्ञभाग के लिये युद्ध।

इससे पूर्व बताया ही है कि महादेव " क्रतुध्वंसी, यज्ञहन्, यज्ञघाती" आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। दक्ष प्रजापति का यज्ञ इन्होंने नष्ट भ्रष्ट किया था। इसकी कथाएं रामायण महाभारत आदि इतिहासों में प्रसिद्ध हैं और प्रायः पुराणों में भी हैं। इसका वृत्तांत यह है—

" दक्षप्रजापतिने यज्ञ किया था, उन्होंने संपूर्ण देवोंको निमंत्रण दिया था, परंतु महादेव को निमंत्रण देनाभी उसने उचित न समझा। इस पर झगडा हुआ और झगडा बढते बढते युद्ध में परिणत हुआ। महादेवने अपने भूतगणोंको अपने सेनापतिके साथ यज्ञके स्थानपर भेजा और उन्होंने वहां जाकर यज्ञमंडप और संपूर्ण यज्ञका नाश किया—

केचिद्बभंजुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथा परे।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४ ॥
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन्।
कुंडेष्वमूत्रयन्केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥ १५ ॥
अबाधन्त मुनीनन्य एके पत्नीरतर्जयन्।
अपरे जगृहुर्देवान्प्रत्यासन्नान्पलायितान् ॥ १६ ॥

श्री० भागवत ४। ६

" कईयोंने यज्ञशालाके बांस तोड दिये, पत्नी शाला का भेदन किया, सभास्थान आग्नीध्र शाला और पाक शाला का नाश कईयोंने किया, कईयोंने यज्ञपात्र तोडे, दूसरों ने अग्नियोंको बुझाया, यज्ञकुंडोंमें कईयोंने मूत्र किया, वेदी मेखला कईयोंने तोड दिये, ऋषिमुनियोंको कईयोंने धमकाया, पत्नीयों—स्त्रियोंका अपमान भी कईयोंने किया, अन्योंने देवोंको पकडकर खूब ठोक दिया । "

इस बलवेमें देवोंको भी खूब चोटे लगीं, कई देवोंके दांत टूट गये, कईयोंको बडी जखमें हो गईं, कईयोंके आंख फटगये इसका वर्णन भी देखिये—

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥ ५१ ॥
देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योस्त्वनातुरम् ॥ ५२ ॥
श्री० भागवत ४ । ६

" यजमान जीवे, भगके आंख ठीक हों, भृगुकी मूछियां ठीक हों, पूषाके दांत पहिले जैसे हों, पत्थरों से फटे देवोंके गात्र और ऋत्विजों के अंग ठीक हों । " इस वर्णनसे पता लगता है कि यजमान दक्ष प्रजापति बहुत घायल हुआ था, यहां तक की उससे जीवित रहने में भी शंका उत्पन्न हुई थी, भग देवताके आंख टूट गये थे, पूषाके दांत टूटगये थे, भृगु की दाढी मूछें काटीं गई थीं और अन्यान्य देवोंके शरीरोंपर अन्यान्य स्थानोंमें बडे भारी भारी जखम बने थे । इस झगडेसे महादेवको जो यज्ञ भाग प्राप्त हुआ उसका भी वर्णन यहां देखिये –

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ५० ॥
श्री० भागवत ४।६

" हे यज्ञघात करने वाले रुद्र महादेव ! यज्ञका उच्छिष्ट अन्नभाग आपका होगा । इस से यज्ञ बढे । "

अर्थात् यज्ञका उच्छिष्ट अन्नभाग महादेव और उनके भूतगणों को देनेका निश्चय करनेसे महादेव और भूतगणोंने आगे कभी यज्ञका घातपात नहीं किया । उच्छिष्ट अन्न भाग का तात्पर्य झूठा अन्न ऐसाही समझने का कोई कारण नहीं है, उसका इतनाही

तात्पर्य दीखता है कि अन्यान्य देवोंका अन्नभाग देनेके पश्चात् जो अन्नभाग अवशिष्ट रहेगा वह रुद्रको दे देना । इतने अन्नभाग पर भूतगणोंकी संतुष्टी हुई । युद्ध करके अन्न का भाग किंवा अन्नका अग्र भाग भी नहीं लिया, परंतु यज्ञके उच्छिष्ट भाग पर ही संतुष्ट होगये !

दक्षादि आर्य लोग देवोंका सत्कार करते थे और उनको अन्न भाग देते थे । परंतु भूत लोगोंको या उनके भूतनाथ महादेव को न कोई यज्ञमें निमंत्रण देता था और न अन्न भाग देते थे । यज्ञके समय देवजातीके लोग यज्ञमंडपमें आकर प्रधान स्थानमें बैठते थे और ताजा अन्न का भाग भक्षण करते थे । आर्य लोग भी उसी प्रकार यज्ञमें संमिलित होते थे और शेष बचा अन्न भूमिमें गाडते या जल में बहा देते थे । परंतु भूत लोगोंको यज्ञमंडपमें आनेकी और अन्न भाग प्राप्त करने की आज्ञा न थी । आजकल भी जिस प्रकार द्विजोंके यज्ञादि कर्म करने के स्थानमें अंत्यज, ढेड, चंभार, अथवा म्लेच्छ, यवन आदि अन्यधर्मीय लोग नहीं आसकते हैं, उसी प्रकार पूर्व समयकी यह बात होगी । इसलिये भूत लोग यज्ञमंडपके आस पास अन्न की इच्छासे धूपमें तडपते और बरसातमें भींगते हुए भ्रमण करते रहते होंगे । परंतु घमंडी आर्य और शक्तिके अभिमानी देव इन भूतोंकी भूखसे पीडित अवस्था का कुछ भी ध्यान नहीं करते थे । पाठक देख सकते हैं और विचार कर सकते हैं कि भूखे लोग इतना अपमान और कष्ट कितने दिन तक बरदास्त कर सकते हैं ? अंतमें इन भूतलोगोंने यज्ञमंडपपर पत्थर फेंके और एकदम अंदर घुस कर यज्ञ की बडी खराबी की ।

यहां प्रश्न होता है कि क्या ये भूत लोग वैदिक धर्मी या आर्य धर्मी थे या भिन्न थे। पूर्वोक्त वर्णन से ही इस बातका निश्चय हो सकता है । पूर्वोक्त वर्णन में निम्न लिखित बातें हैं —

(१) यज्ञ शाला तोड दी,
(२) यज्ञपात्र, वेदियां और यूप तोड दिये,
(३) यज्ञकुंडोंमें मूत्र किया,
(४) ऋषिमुनि और स्त्रियोंका अपमान किया,
(५) देवों को मारा और पीटा ।

यज्ञ शाला, यज्ञ पात्र, वेदियां और यूप तोड दिये अथवा देवोंको मारा पीटा तो

इस में कोई विशेष बात नहीं, क्यों कि वैयक्तिक द्वेषके कारण इतना होना संभव है, परंतु—

१ यज्ञकुंडोंमें मूतना और
२ स्त्रियोंका अपमान करना तथा
३ मुनियों और संतों को सताना।

ये कार्य ऐसे हैं कि जो स्वधर्मी लोग कर नहीं सकते। कमसे कम यज्ञकुंडोंमें मूतना तो यज्ञके निरादर का पूर्णतया द्योतक है। इस समय अंत्यजोंको ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक द्विज अपने धर्मकृत्योंमें शरीख होने नहीं देते हैं, परंतु अंत्यज स्वधर्मी होनेसे वे कभी अंदर घुस कर यज्ञमें या मूर्तिपर कभी मूतेंगे नहीं, परंतु यदि मुसलमानों का विरोध हुआ तो वे यज्ञकुंडोंमें मूत सकते, देवतों की मूर्तियां तोड सकते और स्त्रियोंको भी इच्छानुसार सता सकते हैं। स्वधर्मी और पर धर्मी लोगोंकी मनःप्रवृत्तिमें यह अंतर देखने योग्य है। इसी दृष्टिसे दक्षयज्ञमें महादेव के भूतिया लोग घुसते हैं और यज्ञकुंडोंमें मूतते हैं और स्त्रियों तथा मुनियोंका अपमान करते हैं, इससे इतनी बात निश्चयसे सिद्ध होती है कि भूत लोगोंको यज्ञादिका बिलकुल आदर नहीं था। यदि थोडा भी आदर होता तो वे यज्ञकुंडोंमें कभी भी न मूतते। अन्य बातें आपसके विद्वेष से होना संभव है, परंतु यज्ञकुंडमें मूतना एक ऐसी बात है कि जो स्वधर्मी मनुष्य कभी कर ही नहीं सकता।

इतना अत्याचार करनेपर भी भूतोंकी संतुष्टि, यज्ञके उच्छिष्ट अन्नसे ही होगई! इस से उनकी बुभुक्षित अवस्था और मलीन अवस्थाका ही पता लगता है। आजकल झूटा अन्न खानेवाले कई अंत्यज और भंगी आदि हैं। हम यह नहीं कहते की झूठा अन्न किसीको देना उत्तम है, परंतु यह आजकलका रिवाज है। अन्य जातिके लोग झूठा नहीं खाते। ब्राह्मण क्षत्रियादि उच्च द्विजातीयोंका भोजन होनेके पश्चात् जो अवशिष्ट अन्न रहता है, यद्यपि उसको झूठा नहीं कहते तथापि उसके लिये अपना अधिकार जमाने वाले भी प्रतिष्ठित नहीं समझे जाते। तात्पर्य किसी भी रीतिसे विचार किया जाय तो यह भूत जाती की उच्छिष्ट यज्ञान्न भाग पर संतुष्टि सिद्ध कर रही है कि वे अपने आपको भी इससे अधिक योग्य समझते नहीं थे। देव और द्विजों का भोजन होनेके पश्चात् जितना अन्न बचजाय उतना भी मिलजाय तो भी वह अपने लिये बहुत है ऐसा समझने की अवस्थामें भूतलोग और उनके नेता थे।

दक्ष यज्ञपर जो हमला भूतजातीने किया था वह कोई बडे शस्त्रास्त्र लेकर भी नहीं किया था । " आयुधाश्मन् " अर्थात् पत्थर लेकर ही किया था । इन के मुखियाने केवल एकदो बाण मारे थे । अंदर बैठे देव, मुनि और ऋत्विज अपने कर्ममें रंगे होने के कारण केवल घबराहट के कारण ही सबका पराभव होगया । तात्पर्य शस्त्रभी इनके इस समयके केवल पत्थर ही थे । इससे भी इन की मलीन और साधारण अवस्थाका पता लग सकता है ।

यह सब महादेव की इतिहासिक कथाएं ध्यानपूर्वक पढनेसे स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो सकता है और किसी प्रकारभी शंका नहीं रह सकती कि महादेव के पूर्व और उत्तर आयुमें इस प्रकार परिवर्तन अवश्य हुआ था । अर्थात् जो पहिले विरोधी थे वे मारपीट करनेके कारण यज्ञके उच्छिष्ट भाग के लिये पीछेसे योग्य समझे गये ।

महादेव के रहने सहनेका निरीक्षण इस प्रकार करने के पश्चात् हम देवों के रहने सहनेका निरीक्षण करेंगे तो हमें बडा बोध हो सकता है ।

विष्णुका पीताम्बर ।

देवोंके पहनावके विषय में जब हम विचार करने लगते हैं तब सबसे पहले विष्णुके पीतांबर का स्मरण आता है । यह उत्तम रेशमी वस्त्र था । सब देवों में विष्णु कपडे लत्ते पहनेमें तथा आभूषणादि धारण करने में बडे कुशल देव थे, एक कवीने काव्य करते हुए ऐसा कहा है कि–

किंवा सभस्तत्र विचारणीयं वासः प्रधानं खलु योग्यतायाः ।
पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ स्वकन्यां चर्माम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः ॥

" समुद्रमंथन के समय विष और लक्ष्मी उत्पन्न हुई । उन दो पदार्थों में से लक्ष्मी विष्णुको इस लिये समुद्रने दी कि वह उत्तम पीतांबर पहिने हुए सुंदर देव थे और उसी समुद्रने विष महादेव को इस लिये दिया कि वह चर्म पहिने हुए विरूप देव थे । " इस सुभाषित काव्यका तात्पर्य इतनाही है कि उत्तम पोषाख पहनना चाहिये तभी दूसरोंपर उसका उत्तम प्रभाव होता है । अस्तु ।

विष्णु उपेन्द्रकी सुंदरता और सुशोभित रीतिसे रहनेका ढंग सर्वत्र प्रसिद्ध है । इस लिये उसका अधिक वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । हमें यहां उनके सुंदर

पीतांबर का ही दर्शन करना है । यह अति सुंदर रेशमी वस्त्र था । इसी प्रकार उसका उत्तरीय, उसकी पुष्पमाला, उसका कंठभूषण, उसका सुंदर मुकुट बडा ही रमणीय था। इंद्रसम्राट् का वस्त्र भी सुंदर, उसका चोगा जरतारीका नकशीदार और उत्तरीय भी जरतारीका नकशीदार था । इनके शिरस्त्राण और उष्णीष अर्थात् साफेका वर्णन भी ऐसा ही सुंदर है । मरुतों के साफे तो बडे ही सुंदर होतेथे तथा शमले भी मनोहर होते थे । अश्विनी कुमारों की सुंदरता सर्वत्र प्रसिद्ध है । तात्पर्य देवोंके कपडे लत्ते जब हम देखते हैं तो उनके सुंदर और मनोहारी वस्त्रोंका स्पष्ट वर्णन हमें निश्चयसे कहता है कि त्रिविष्टप के देव वस्त्रोंकी सभ्यता के अंदर आचुके थे । भूतानके भूतिया लोगोंकी सभ्यता चमडे पहनने की थी और उसी समय त्रिविष्टपके देव उमदा वस्त्र पहननेकी अवस्थामें पहुंच चुके थे ।

देवोंके शस्त्रास्त्र ।

अब देवोंके शस्त्रास्त्रोंका थोडासा विचार करना चाहिये । देवोंके युद्धादिकोंका वर्णन देखनेसे पता लगता है कि धनुष्य, बाण, गदा, तलवार, भाला आदि शस्त्र उनके पास थे । कई प्रसंगोंमें उनके विशेष शस्त्रास्त्रोंका भी वर्णन आया है, जैसा विष्णुका चक्र, यह चक्र आजकलके शिखोंके चक्रों के समान ही था। संभव है कि शिखोंके चक्रका संबंध विष्णुके चक्रके साथ भी जुड जायगा । मरुतोंके पास भाले, बरची, तमंचा, तलवार आदि शस्त्र होते थे । पूषा देवताके पास एक शस्त्र होता था वह स्रुवे के समान होता था । ये सब शस्त्र फौलाद के ही होते थे । ये शस्त्रास्त्र और महादेव के पासके त्रिशूला-दि शस्त्रके समान ही लोहप्रगतिके द्योतक हैं । फौलाद बनाने और उससे शस्त्र तैयार करने की विद्या इन स्थानों में निःसंदेह प्रचलित थी। इसके पश्चात् इंद्रके वज्रका विचार मनमें आता है—

इन्द्रका वज्र ।

शस्त्रोंमें सबसे बढिया इंद्रका वज्र है और यह वृत्रासुर को मारने के लिये देवोंके कारीगर त्वष्टाने बनाया था । इस में दधीची ऋषिकी हड्डियां मुख्य स्थान रखती थीं। दधीची की पसलियां इस में लगायीं थीं। पुराणोंका वर्णन देखनेसे पता लगता है कि यह दधीची ऋषि था और उसने परोपकारके लिये अपनी हड्डियां दी थीं। परंतु अब इसका

विचार कारीगरीकी दृष्टिसे करना चाहिये । राष्ट्रकार्य के लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेका बोध दधीचीके आत्मत्यागमें दीखता है, इस दृष्टिसे दधीची की उक्त कथा बडी बोधप्रद है इसमें किसीको यत्किंचितभी शंका नहीं हो सकती । परंतु मनुष्य की हड्डियों का वज्र बन सकता है वा नहीं इसका विचार कारीगरी की दृष्टिसे भी करना आवश्यक है । हाथीका दांत, हाथीकी पसली, घोडेकी पसली अथवा ऐसे बडे जानवरों की हड्डियां आदिके अस्त्र बन सकते हैं। शस्त्र या अस्त्र बननेके लिये ऐसा पदार्थ चाहिये कि जो स्वयं मजबूत हो और न टूटनेवाला हो । मनुष्य की हड्डी वैसी नहीं है । सब पशुओंसे मनुष्यकी हड्डी बडी कमजोर है, इस लिये सचमुच किसी ऋषि की अर्थात् किसी मनुष्यकी- हड्डीसे कोई प्रबल अस्त्र बनाया गया हो यह कल्पना कारीगरीकी दृष्टि से यथार्थ मानना कठिन है। हाथीका दांत, हाथीकी पसली, या घोडेकी पसली अथवा किसी अन्य बडे जानवर की पसली या हड्डीसे उक्त शस्त्र बनना संभव है ।

खोजके लिये दधि-ची शब्दसे मिलता जुलता शब्द दधि-क्रा है वह यहां देखिये-

१ दधिक्र, दधिक्रा, दधिक्रावन् ।
२ दधीच, दधीचि, दध्यञ्च् (दधि+अंच्)

पहिला शब्द दिव्य घोडेका प्रसिद्ध है और दूसरा ऋषिका वाचक है । पूर्वोक्त इंद्रके वज्रके साथ ऋषिवाचक शब्दका संबंध पुराणोंने बताया है, परंतु वह कारीगरी की दृष्टि से असंभव है, यदि हम घोडावाचक शब्द ही उस स्थानपर मान सकेंगे, तो बनवाईकी दृष्टिसे इंद्रका वज्र बडे घोडे के पसली से बन सकता है। दोनों शब्दों में "दधि" शब्द समान है इस लिये यह कल्पना भी संभव दिखाई देती है। तथापि इसके विषयमें अधिक खोज होना अत्यंत आवश्यक है ।

यदि मनुष्यकी हड्डिसे इंद्रका वज्र बनाया हो अथवा घोडेकी हड्डीसे बनाया हो, किसी हड्डीसे ही बनाया गया था इसमें कोई संदेह नहीं है। अर्थात् हड्डीसे शस्त्र बनानेका जो युग होगा उस युगकी देव जाती मानना उचित है, क्यों कि उनके सम्राट् का शस्त्र ही हड्डीका बना है ।

महादेव कचे चर्म पहननेके युगके थे, और इंद्रादि देव यद्यपि वस्त्रयुगमें थे तथापि हड्डियोंके शस्त्र बर्तते थे इस लिये अस्थियुगसे किंचित् ऊंची अवस्थामें आ पहुंचे थे । इंद्रके वज्रमें त्वष्टाने कुछ फौलाद भी लगाया था और वह तपाकर फिर पानीमें

रखकर अर्थात् उत्तम धारा होने योग्य तीक्ष्ण बनाया था । इससे सिद्ध है, कि यह वज्र सब हड्डीका था और उसके अग्र भाग में नोकदार छूरा लगा हुआ था। हाड्डिके शस्त्रपर फौलादका छूरा लगानेकी कारीगरी यहां दीखती है। यह फौलाद देवोंके कारीगर स्वयं बनाते थे या अन्य देशोंसे मंगवाते थे इस विषयका पता इस समयतक लगा नहीं है ।

महादेव के भूतिया कारीगर और इंद्रके त्वष्टा कारीगर फौलाद और हड्डीके योगसे शस्त्र बना लेते थे इसमें संदेह नहीं है, परंतु फौलाद स्वयं बना लेते थे या दूसरे देशसे मंगवाते थे इस विषयकी शंका है । इस विषय में असुरोंकी कारीगरी का भी थोडासा विचार करना चाहिये–

असुरोंकी कारीगरी ।

असुरोंके शिल्प, असुरोंकी कारीगरी, असुरोंकी माया अर्थात् हुनर बहुत प्राचीन कालसे प्रसिद्ध है । मयासुर के समान इंजिनियर पांडवोंके समय आर्यों में कोई भी नहीं था । मयासुर असुर जातीका इंजिनिअर था और भारतवर्षमें आकर यहां के राजाओंके गृहादि निर्माण करके बहुत कमाई करता था । आजकल युरोप के इंजिनिअर्स यहां आकर कार्य करते हैं उसी प्रकार उस समयका यह दृश्य है ।

भीमकी गदा भारतवर्षमें बनी न थी वह असुरोंकी कारीगरीसे बनी थी और मयासुरने भेंटके रूपमें वह भीमसेनको अर्पण की थी–

अस्ति बिंदुसरस्युग्रा गदा च कुरुनंदन ॥ ५ ॥
निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिंदुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥
सा वै शतसहस्रस्य संमिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥

म० भा० सभा० अ० ३

"हे कुरुनन्दन ! जान पडता है कि उस बिंदुसरोवर में एक बडी कठोर गदा भी पडी है । राजा वृषपर्वाने लक्ष गदाओंके समान, बडा भार सहने योग्य, सुवर्णके बिंदुओंसे चित्रित शत्रुनाशी उस कठोर गदासे शत्रुओं का हनन कर उसे वहां रखा है । गांडीव जैसा आपके योग्य है वैसेही वह गदा भीमसेनके योग्य है ।"

इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हो रहा है कि भीमसेन की गदा असुर देशके कारीगरोंसे बनी थी। धर्मराजके सभाभवन का सब सामान असुर देश के कारीगरों द्वारा ही बना था, और भारतवर्ष के कारीगरोंको उसकी बनवाई या रखवारी का कोई हिस्सा मिला नहीं था। कैलास पर्वतकी उत्तर दिशामें मैनाक पर्वतके पीछे हिरण्यशृंग पर्वत है और वहां बिंदुसरोवर है। इस स्थानपर वृषपर्वाकी सभा बनानेके लिये लाये हुए सामानमेंसे जो कुछ सामान बचा था उससे धर्मराज की सभा बनायी थी और वृषपर्वाकी सभाके लिये सामान असुर देशसे ही लाया था।

इससे पता चलता है कि कारीगरीके पदार्थों के लिये असुर देशके मायावी (हुनरवाले) लोग उस कालमें सुप्रसिद्ध थे और उनसे बडे बडे कारीगरीके पदार्थ देवोंके राष्ट्र में और भारत वर्षमें भी लाये जाते थे। असुरमाया का अर्थ असुरोंका हुनर ही है।

स्थान स्थान में असुरोंकी मायासे देव और आर्य भयभीत होते थे। इसका अर्थ उन असुरोंकी कुशलतासे, उनके हुनरसे, उनकी चालाकी और कपटसे वे डरते थे अर्थात् इन में असुर देवों और आर्योंसे बढ कर थे। इस समय में भी युरोपके लोग यंत्रनिर्माण, यंत्रकौशल, चालाकी कपटनीति आदि में भारतवर्षीयोंसे बहुत आगे हैं और इसकारण एक प्रकारका डर उनके विषयमें भारतीयों के मनमें विद्यमान है, यही बात प्राचीन काल में भी थी। भारतीय लोग और देवलोग सीधे सादे, सच्चे दिलवाले, कपट प्रयोगसे अनभिज्ञ थे। इन में केवल उपेन्द्र विष्णु ही एक देव था कि जो असुरोंके कपट के साथ कपट करके अपना बचाव कर सकता था। शेष सब देव और आर्य असुरमाया से घबरा जाते थे। स्वसंरक्षण की दृष्टिसे यह देवों और आर्यों में बडा भारी दोष था। किसी भी युद्ध प्रसंगमें देखिये जहां असुर माया अथवा कपट या हुनर का आश्रय करके इनके सन्मुख खडे होते थे उस समय इनकी घबराहट होजाती थी। इससे स्वतः सिद्ध है कि इस विद्यामें असुर बडे प्रबल थे।

कच भी असुरोंके पाससे विशेष विद्या प्राप्त करनेके लिये देवोंके पाससे भेजागया था। वहांसे वह विद्या सीखकर वापस आनेतक देवोंका विजय नहीं होता था अर्थात् इस समय देव असुरोंसे युद्ध शक्तिमें कम थे। इत्यादि बातें देखनेसे पता लगता है कि असुर-देश विद्या, हुनर, कला, कपटनीति आदि अनेक साधनोंसे संपन्न था। और बहुत संभव है कि बहुतसे पदार्थ, शस्त्र आदि असुर देशोंसे देवोंके देशमें तथा अन्यान्य

देशोंमे व्योपारियों द्वारा लाये जाते होंगे । जिस प्रकार इस समय अथवा मराठोंके साम्राज्यके दिनोंमें भी युरोपसे ही शस्त्रास्त्र लिये जाते थे । अच्छी तलवारें, बंदूकें तथा तोपें भी विदेशी ही थीं, यहां तक कि भारतीय मंदिरोंकी बडी बडी घंटाएं भी विदेश से लायीं जाती थीं और यहां की बनी नहीं थीं । यह सब है तो शोक की ही बात, परंतु सच होनेसे लिखनी पडी है । धनधान्यकी विपुलता के कारण बहुत प्रयत्न करके साध्य होनेवाले कलाकौशल की ओर इनका ध्यान कम था । और असुर जातीके लोगोंका ध्यान अधिक था । इस लिये बहुत संभव है कि जिस प्रकार भीमकी प्रसिद्ध गदा असुर देशकी बनी थी, अर्जुन का शंख विदेशी था, उसी प्रकार बहुतसे अन्यान्य शस्त्रभी विदेशसे लाये जाते होंगे ।

इंद्रका वज्र हड्डीका था और उसपर फौलाद का सूरा लगादिया था ! सबका सब वज्र फौलाद का बना नहीं था । इंद्र और महादेव के पास कुछ अस्त्र विशेष प्रभाव-शाली अवश्य थे, परंतु वे गिनतीके थे अर्थात् दो चार दस पांच इतने ही होते थे अर्थात् हजारोंकी तादाद में कभी न थे । अर्जुन ने इतने परिश्रमसे महादेवसे एक पाशुपतास्त्र और इंद्रसे चार पांच अस्त्र लाये थे । इतने प्रयत्न करनेपर भी अर्जुन के पास शस्त्र गिने चुने ही थे। और इसी कारण अति कठिन प्रसंग आनेतक विशेष अस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाता था । कर्णने इन्द्रसे एकही अस्त्र प्राप्त किया था जो उन्होंने अर्जुन के मारनेके लिये सुरक्षित रखा था, परंतु बीचमें आपत्ति आने के कारण उन्होंने अपना बचाव करनेके लिये वह अस्त्र घटोत्कचपर छोड दिया । इस कारण उसके पास अर्जुन के नाशके लिये कोई विशेष अस्त्र रहा नहीं था । इन बातोंका विचार करनेसे पता लगता है कि आर्योंके पास तथा देवोंके पास भी गिनेचुने शस्त्रास्त्र होते थे । इससे स्पष्ट होता है कि इन अस्त्रोंके बनानेके बडे बडे कारखाने कहीं भी न थे। किसीके पाससे कुछ नाशक शस्त्र मांगकर लाये जाते थे और वे विशेष समय के लिये रखे जाते थे। यदि फौलाद या अस्त्र बनाने की विद्या देवों और आर्योंके पास विशेष रूपमें होती तो अस्त्रोंका विशेष दुर्भिक्ष्य रहनेका कोई कारण नहीं था । इसी लिये हम अनुमान करते हैं कि तिब्बतकी देवजाती हड्डियोंके हथियार बनानेके युगमें ही थी और फौलाद आदि के टुकडे किसी बाहर के देशसे किसी प्रकार लाकर अपने हड्डियोंके शस्त्रोंके आगे जोड देते थे ।

इससे यह भी नहीं मानना चाहिये कि असुर देशोंमें इन अस्त्रोंके बडे बडे कारखाने

थे। ऐसा माननेके लिये भी कोई प्रमाण नहीं है। तथापि असुरोंकी संघशक्ति, उनके कपट विद्याके प्रयोग, उनकी युद्धकी सांघिक तैयारी, प्रबल हमले चढानेका साहस, उनके मायायुद्ध और उनके अस्त्रप्रयोग आदिका वर्णन देखनेसे पता लगता है कि असुरोंके पास इन पदार्थोंकी उतनी न्यूनता नहीं थी जितनी की देवों और आर्योंके पास थी।

रामरावणके युद्धमें ही देखिये कि रावण की तैयारी कितनी थी, उसके शस्त्रास्त्र कितने थे और रामके सैन्यके पास नाखून, दांत और लाठियां इनके सिवाय कुछभी नहीं था। एक रामके पास विशेष शस्त्र अस्त्र न होते तो रामका विजय करीब अशक्यही था। अथवा रामके विजयका बीज रावणकी धार्मिक अवनतिमें भी ढूंढ सकते हैं। हमारे कहनेका तात्पर्य इतनाही है कि असुर राक्षस आदि लोग विशेष भौतिक साधनोंसे संपन्न थे, अधिक कुशल, अधिक कपटी और अधिक शारीरिक शक्तिसे युक्त थे।

देवों और आर्योंके शस्त्रास्त्र गिनेचुने होनेके कारण हम अनुमान करते हैं कि उक्त शस्त्रास्त्र बनानेके विपुल साधन न तो तिब्बतके देवोंके पास थे और न भारतीय आर्योंके पास थे। यदि वे साधन अन्य देशोंसे वे नहीं लाते थे तो यहां भी पर्याप्त संख्यामें वे बनाते नहीं थे या बना नहीं सकते थे। यदि बनाते तो अस्त्रोंकी संख्या इतनी थोडी नहीं होती। और थोडेसे अस्त्रोंके लिये अर्जुन को चार पांच वर्ष विदेशमें (तिब्बतमें और भूतानमें) रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी।

महाभारतके युद्ध वर्णन पढनेसे पता लगता है कि ये शस्त्रास्त्र बहुत परिणाम कारी भी नहीं थे। एक तो लडने वाले वीरोंमें अंतर उतनाही होता था कि जितना परस्पर वीरोंके भाषण सुननेके लिये चाहिये। परस्परका शब्द सुनकर उसके सवाल का जबाब देनेके लिये जितना अंतर रखना आवश्यक होता है उतनाही अंतर लडने वाले वीरों में होता था। अर्थात् वीर बहुत पास पास रहकर ही लडते थे। इससे सिद्ध है कि उनके बाणों का वेग भी बडी दूर तक नहीं होता था। पास पास रहकर परस्पर प्रश्नोत्तर करते हुए वे एक दूसरेसे लडते थे और अस्त्र भी इसी प्रकार फेंकते थे। इतना होनेपर भी हरएक अस्त्र निःसंदेह कार्य कारी नहीं होता था और अंत में बाण फेंककर ही शत्रुका वध होता था। इस युद्ध की अपेक्षा आजकलके युरोपके युद्ध बहुत ही भयानक हैं और युद्ध साधनों की भी आजकल बडी बाढ हुई है। हम यह कभी नहीं कहेंगे

कि यह अच्छा हुआ है परंतु युद्ध साधनोंकी तुलना की दृष्टीसे ही हमें यहां लिखना है । अच्छा हो या बुरा हो जो है सो है । तात्पर्य अस्त्र और शस्त्रों की अवास्तविक कविकल्पना को अलग करके यदि हम देखेंगे तो हमें शस्त्रास्त्रों की अल्पता ही प्राचीन समयमें दिखाई देगी । धनुष्य बाणही अंतिम निश्चय करने वाला उनका शस्त्र था । लाठी, सोटी, पत्थर, गदा आदि साधारण पदाति सैनिकोंके शस्त्र और रथी वीरों के पास धनुष्य बाण रहते थे । इस से भिन्न जो वर्णन हैं वे केवल कविकल्पना के हैं ।

इसी लिये हम कहते हैं कि न तो देवोंके पास और नाही भारतीय आर्यों के पास शस्त्रास्त्रों के बडे कारखाने थे और उनके शस्त्रास्त्र साधारण लुहार ही अपनी शक्तिके अनुसार बनालेते थे । शेष वर्णन बहुत अत्युक्तिका है और कविकल्पना से विचित्र हुआ है । जहां देव सम्राट्का प्रबल अस्त्र हड्डीसे बना होता है वहां अन्यों के पास उससे विशेष अस्त्र आनाही कहांसे है ?

सभ्यता का दर्जा ।

" वैदिक धर्म " में अर्थात्—आर्य धर्ममें सभ्यताका दर्जा न तो शस्त्रास्त्रों की प्रगतिपर समझा जाता है और नाही वस्त्रों और आभूषणों के ऊपर माना जाता है, निर्धन और वस्त्रहीन ऋषिमुनि या संन्यासी वैदिक धर्म में उच्चसे उच्च दर्जेपर समझे जाते हैं और भौतिक साधनोंसे संपन्न लोग यदि वे आत्मिक ज्ञानसे हीन हैं तो अति निकृष्ट समझे जाते हैं । अर्थात् इस समय में भी लंगोट लगानेवाला आत्मिक शक्ति से संपन्न महात्मा वंदनीय माना जाता है, मोटारोंमें बैठ कर भ्रमण करने वाले धनपति उस महात्मा के चरणोंपर अपना सिर रखने में ही अपनी धन्यता मानते हैं । यह सारांशसे हमारी सभ्यता की महत्ता है ।

इसलिये यद्यपि हमने पूर्व लेख में असुरोंकी विशेष साधन संपन्नता, कुशलता और धूर्तता बताई है और देवों भूतों और आर्योंकी उन बातोंमें उससे न्यून स्थिति दर्शाई है तथापि उससे कोई यह अनुमान न निकाले की हमने असुरों को अन्योंकी अपेक्षा अधिक सभ्य दर्शाने की चेष्टा की है । यह भाव बिलकुल नहीं है । भौतिक साधनोंकी विपुलतामें कौन देश किस अवस्थामें था इतना ही दर्शाने का हमारा उद्देश पूर्व लेखमें था ।

देवोंके राष्ट्रमें नारदादि मुनी, आर्योंके राष्ट्रमें वसिष्ठ वामदेवादि मुनि ये भौतिक साधन संपन्नता में बिलकुल कम होनेपर भी वैदिक सभ्यता की दृष्टिसे वे सबसे आगे थे यह बात हरएक पाठक को मनन पूर्वक ध्यानमें रखना चाहिये। असुरों को भी अपने महा विद्यालका प्रधानाध्यापक शुक्राचार्य ही रखना पडा था। इत्यादि बहुतसी बातें देवों और आर्योंका सभ्यताका दर्जा असुरादिकों से कई गुणा अधिक था यही बात सिद्ध कर रही हैं। वैदिक धर्म में सभ्यता का भाव "मनुष्यत्व का विशेष विकास" ही है और वह देवोंके ऋषिमुनियों और आर्योंके ब्राह्मणों में अत्यधिक था। और इस बातको उस समयके असुरादि सब जानते ही थे। नारद मुनि का सत्कार सुर असुर और आर्य समानतया करते थे इसका बीज यही है। अस्तु इसका विस्तार आगे जाकर अन्य लेखमें होने वाला है परंतु यहां केवल दिग्दर्शन मात्र किया है।

देवों, भूतों और आर्योंका थोडासा विचार इस लेखमें यहां किया है इससे उनके स्थानों और रीति रिवाजों का भी पता पाठकोंको हो जायगा। इसके पश्चात् असुरादिकों के देशोंका विचार करना है। इन देशोंके स्थान पूर्व स्थानमें दिये हुए चित्रमें पाठक देख सकते हैं। त्रिविष्टपकी पश्चिम दिशामें असुरों और राक्षसों के देश पुराणों में वर्णित हैं इसलिये देवों के देशोंका निश्चय होते ही अन्य देशों का निश्चय होना अशक्य बात नहीं है।

असुरोपासक।

असुरोपासक लोगोंका नाम प्राचीन कालमें असुर था। इस समय असुरोपासक केवल पारसी लोग ही हैं। परंतु यह जाति अब थोडीसी रह गई है, प्राचीन कालमें यह बडी जाती थी और इनका देश भी बडा भारी था। असीरिया आदि अनेक देश इनसे ही व्याप्त थे। इस समयमें भी पारसी अपने परमेश्वर की उपासना "असुर" अर्थात् "अहुर" नामसे करते हैं।

राक्षसलोग इनसे भिन्न थे। यद्यपि आज कल असुर राक्षस आदि शब्द समानार्थक समझे जाते हैं तथापि प्राचीन कालमें ये शब्द विभिन्न जातियों के वाचक समझे जाते थे। असुरों की अपेक्षा राक्षसों का देश किंचित् उत्तर दिशामें और दैत्योंका असुरोंसे भी पश्चिम दिशामें था।

दानवोंके स्थान की सूचक "दान्युब नदी" इस समयमें भी है। इस लिये इनका देश ढूंडनेमें बहुत कठिता नहीं होगी।

असिरिया अथवा असुर्य देशकी उत्तर दिशामें उरर्तु देश है प्रायः यहि वृत्र देश है। उकार के स्थानपर वकार और र, त का स्थान व्युत्क्रम की कल्पना करनेसे वृत्र शब्द उसमें दिखाई देता है और यह देश असुर राक्षस और दानवोंके देशोंके मध्य वर्ती स्थानमें है।

इस प्रकार असुर राक्षसों के देशोंकी व्यवस्था है। यद्यपि ये देश भारतवर्षसे बडी दूरीपर हैं तथापि वहांसे असुरराक्षसादि जातियाँ भारतवर्षमें आकर रहती थीं और कई असुरवीरोंने यहां अपना राज्यभी जमाया था। बाणासुरादि कई असुरवीर हिमालय की पहाडीमें अपना राज्य कर रहे थे। बाणासुरका राज्य इस समयके रियासत रामपूर में था। यह रियासत जिला शिमला में है। शिमलासे सवासों मिल दूरीपर यह रियासत है जो चीनीके छोटे कैलास के पास है। इस रियासत की हिमकाल की राजधानी रामपुर है और उष्णकाल की राजधानी सरहन है। चीनी में बाणासुर का कीला इस समय में भी प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि यह बाणासुर भूतनाथ महादेव का इतना प्रिय था कि वह उससे मिलने के लिये प्रतिदिन जाता था। चिनी ग्रामसे छोटा कैलास छः मील दूरीपर है और बडा कैलास सीधे मार्गसे साठ सत्तर मील से अधिक दूर नहीं है, परंतु आज कलका मार्ग बहुतही दूर है। महादेवभी सालमें कई मास मुख्य कैलास में रहते थे और कई दिन छोटे कैलासमें आकर रहते थे। इस रामपुर रियासत में महादेवके शिवमंदिर तथा कालीमंदिर बहुत हैं और साथ साथ बाणासुर की पुत्री उषा आदिकोंके मंदिर भी हैं। इस उषाके मंदिर में बडा धन है जिसका उपयोग कर्जोंके लेन देन में नियत सूद से इस समय होता है।

यह बाणासुर की पुत्री उषा पीतांबर धारी उपेन्द्र विष्णुके पुत्र अनिरुद्ध से ब्याही थी, इस से भी प्रतीत होता है कि जिस प्रकार बाणासुर हिमालयकी पहाडीमें रहता था उसी प्रकार उपेन्द्र विष्णु भी हिमालय के पहाडी पर ही किसी स्थानपर रहता था, इस विषयमें पहिले लिखा गया है।

जिस प्रकार बाणासुरका राज्य हिमालयमें था, उसी प्रकार कई अन्य असुर वीर भारतवर्षमें आकर अपने राज्य जमाकर मौजकर रहे थे। और जिस प्रकार आजकल बहुतसे छोटे और मोटे ग्रामोंमें अफगाणिस्थानके पठाण आते हैं और साधारण लोगोंको

सताते हैं उसी प्रकार ये असुर राक्षस बहुत से ग्रामनिवासियोंको बडा दुःख देते थे। दक्षिण भारत तक कोई ऐसा ग्राम न था कि जो इनसे दुखी नहीं था। पश्चिम समुद्रमें वरुणका अधिकार था और उसके आश्रयसे कई असुर राक्षस रहे थे। उत्तर भारतमें भूतनाथ महादेव के आश्रयसे बाणासुरादि राक्षस रहते थे, पश्चिम भारत में तो खांडव वन तक असुर राक्षसादिकों का अधिकार था जिनका पराजय करके ही पांडवोंको अपना राज्य स्थापन करना पडा था।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि असुरादिकोंके देश भारतवर्षसे बडे दूर थे, तथापि उनकी कई जातियां भारतवर्षमें आकर रहती थीं और भारतीयों से व्यवहार करती थीं। इतना विचार असुरादिकोंके संबंध में होनेके पश्चात् भारतवर्षके संबंधमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न-का विचार करना है वह प्रश्न यह है—

भारतीयोंका राजकीय स्वातंत्र्य ।

भारतीयोंकी राजकीय स्वतंत्रता किस दशामें थी यह भी एक विचारणीय बात है। देव जातीके तथा भूतजातीके उपनिवेश भारत देशमें होते थे। जिस प्रकार युरोपके लोगोंने अमेरिका आस्ट्रेलिया और आफ्रिकामें अपनी बसाहतें की हैं और वे देश युरो-पीयनोंके आधीन हैं तथापि अमरिकाके संयुक्त प्रांत युरोपीयनोंसे अलग होगये हैं और अन्य वासाहतिक प्रांत पूर्ण स्वतंत्र होनेका प्रयत्न कर रहे हैं, उसी प्रकार के संबंध में तिब्बत की देवजाती और भारतीय आर्य जाती थी। भारत देशमें देव जातीके उपनिवेश पश्चिम दिशा के प्रांतों में और भूत जातीके उपनिवेश पूर्व दिशाके प्रांतों में हुए थे। हरएक उपनिवेश प्रायः अपने आपको स्वतंत्र मानता था। परंतु पश्चात् असुर, राक्षस, दानव, दैत्य, भूत और सुरोंके आक्रमणोंसे भारतीय उपनिवेशभूत आर्योंने अपने संघ बनाये। पहिले जो छोटे छोटे "राज्य" थे वे संघोंमें परिणत होते ही "साम्राज्य" अर्थात् "संघीभूत राज्य" इस नामको प्राप्त हुए। छोटे "राज्य" के शासनकर्ता का नाम राजा, बडे महाराज्यके शासकका नाम "महाराजा" और "साम्राज्य" के शासनकर्ताका नाम सम्राट् था। इनके मनोरंजक इतिहास भारतीय यज्ञ संस्थाका मनन करनेसे ज्ञात हो सकते हैं। यह विषय किसी अन्य निबंधके लिये रखनेका विचार है इस लिये इस स्थानपर इसका विचार नहीं किया जायगा। परंतु यहां इतना कहना आवश्यक है कि भारतीय आर्य लोग देवजातीके उपनिवेशके अंग होनेके कारण

देव जातीके ही भाग थे और यद्यपि देवों और आर्योंके युद्ध हुआ करते थे तथापि उन युद्धोंका स्वरूप ऐसाही होता था कि जैसा इंग्लैंद और अमरिकाके संयुक्त संस्थानोंका स्वातंत्र्य के लिये युद्ध हुआ था। अर्थात् आर्यों और देवों का युद्ध भिन्न दृष्टिसे देखना चाहिये और आर्यों और राक्षसोंके युद्ध भिन्न दृष्टिसे ही देखने चाहियें।

देवोंकी वसाहतें भारत वर्षमें अनेक बार हुई हैं। पहिली देवोंकी वसाहत की लहर यहां स्थिर हो जाने के पश्चात् कई वर्षोंके पीछे दूसरी लहर आ जाती थी। इस रीतिसे कई लहरें त्रिविष्टपसे भारत में आगई और यहां रही थीं। इस कारण ऐसा होता था कि पहिली लहरके साथ नवीन लहर वालोंका भी युद्ध होता था। भारतीय भूमिमें जो युद्ध हुए उनका विचार करनेके समय इतनी बातोंको ध्यान में धरके विचार करना चाहिये तभी युद्धके निदान की ठीक कल्पना मनमें आ सकती है।

राक्षस जातीने भी भारत पर कई बार हमले किये थे। और अल्पस्वल्प भागपर अधिकार भी जमाया था। परंतु ऐसे समयों में देवों और आर्योंके संघ बनाये जाते थे और राक्षसों का पराभव किया जाता था। राक्षसोंके पक्ष में रहकर आर्यों और देवों के साथ युद्ध करने वाले केवल एक ही भूतसम्राट् महादेव थे। अन्य देवों का आर्योंके साथ सदा मित्रताका ही संबंध रहा था, और देवों तथा आर्यों के झगडों का स्वरूप केवल आपसके घरेलू झगडोंसे बढकर कभी नहीं हुआ था। महादेव का अपवाद छोडकर अन्य युद्धों में यही बात पाठक देख सकते हैं।

तात्पर्य भारतीय आर्य जाती यद्यपि कई बातों में असुरों और राक्षसोंसे न्यून बलवाली थी तथापि स्वातंत्र्य प्रिय जाती थी और सदा आत्मसम्मान के लिये दक्ष थी तथा कभी भी पारतंत्र्य सहन करने वाली नहीं थी। बाहर से शत्रुओं के हमले होते थे, परंतु उन हमलों को अनेक युक्तियां कर के हटा देते थे और अपना स्वातंत्र्य अबाधित रखते थे। इसी लिये उनके स्वातंत्र्यकी स्थापना के लिये जो जो युद्ध हुए थे उनके इतिहास बडे मनोरंजक और बोधप्रद हैं। यदि इस समय की भारतीय जनता अपने पूर्वजों के इतिहासों को इस दृष्टीसे देखेंगी तो उन को इस समय भी बडा लाभ हो सकता है और धैर्यसे आगे बढनेका महत्त्वपूर्ण कार्य उनसे हो सकता है। आशा है कि अपने प्राचीन इतिहास का विचार शुद्ध इतिहासकी दृष्टिसे ही कर के उस इतिहास में अपनी भावी उन्नतिका मार्ग पाठक देखेंगे और उस पर से चलकर विजयके भागी होंगे।

—०—

महाभारत समालोचना।

द्वितीयभागकी विषयसूची।

यहांके सब अंक व्यर्थ हो जाते हैं, इस लिये हरएक ग्राहक इस सूचना का स्मरण रखे और असावधानी होने न दें।

विनामूल्य महाभारत।

(१०) जो सज्जन १००) अथवा अधिक रुपये स्वाध्यायमंडल को एक समय दान देंगे, उनको वैदिकधर्म तथा महाभारत के भाग तथा स्वाध्यायमंडल के पुस्तक जो उनका दान मिलने के पश्चात् मुद्रित होंगे, विनामूल्य मिलते जायंगे।

(११) जो सज्जन एक समय १००) रु. स्वाध्याय मंडलके पास अनामत रखेंगे उनको महाभारत के वे अंक जो उनकी रकम आनेके पश्चात् मुद्रित होंगे विनामूल्य मिलेंगे और महाभारत का मुद्रण समाप्त होते ही उनकी रकम,अर्थात् केवल १००) सौ रु., वापस की जायगी। (स्वाध्याय मंडल की कोई अन्य पुस्तक इनको विनामूल्य मिलेगी नहीं।)

(१२)जो महाशय दस ग्राहकों का चंदा इकट्ठा म०आ०द्वारा भेजकर अपने नामपर सब अंक मंगायेंगे,उनको एक अंक विना-मूल्य भेजा जायगा।

पीछेसे मूल्य बढेगा।

पीछे से इस ग्रंथ का मूल्य बढेगा। इस लिये जो ग्राहक शीघ्रही बनेंगे उनको ही इस अवसर से लाभ हो सकता है।

मंत्री—
स्वाध्यायमंडल,
औंध (जि. सातारा)
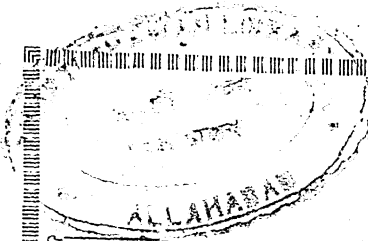
स्वाध्याय के ग्रंथ।

[१] यजुर्वेदका स्वाध्याय।

(१) य. अ. ३० की व्याख्या। नरमेध। मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।१)

(२) य. अ. ३२ का व्याख्या। सर्वमेध। "एक ईश्वरकी उपासना।" मू. ॥)

(३) य. अ. ३६ की व्याख्या। शांतिकरण। "सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।" मू. ॥)

[२] देवता-परिचय ग्रंथ माला।

(१) रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥=)
(२) ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)
(३) ३३ देवताओंका विचार। मू. =)
(४) देवताविचार। मू. =)
(५) वैदिक अग्नि विद्या। मू. १॥

[३] योग-साधन-माला।

(१) संध्योपासना। मू. १॥
(२) संध्याका अनुष्ठान। मू. ॥)
(३) वैदिक-प्राण-विद्या। मू. १
(४) ब्रह्मचर्य। मू. १।
(५) योग साधन की तैयारी। मू. १
(६) योग के आसन मू. २)
(७) सूर्यभेदन व्यायाम। मू. ।=

[४] धर्म--शिक्षाके ग्रंथ।

(१) बालकोंकी धर्मशिक्षा। प्रथमभाग -)
(२) बालकोंकी धर्मशिक्षा। द्वितीयभाग =)
(३) वैदिक पाठ माला। प्रथम पुस्तक =)

[५] स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। १॥)
(२) वेदका स्वयं शिक्षक। द्वितीय भाग १॥)

[६] आगम--निबंध--माला।

(१) वैदिक राज्य पद्धति। मू. ।-)
(२) मानवी आयुष्य। मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता। मू. ॥।)
(४) वैदिक चिकित्सा-शास्त्र। मू. ।)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा। मू. ॥)
(६) वैदिक सर्प-विद्या। मू. ॥)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय। मू. ॥)
(८) वेदमें चर्खा। मू. ॥)
(९) शिव संकल्पका विजय। मू. ॥।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेशता। मू. ॥)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ। मू. ॥)
(१२) वेदमें रोगजंतुशास्त्र। मू. =)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न। मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने। मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या। मू. =)
(१६) वैदिक जलविद्या। मू. =)
(१७) आत्मशक्ति का विकास। मू. ।-)

[७] उपनिषद् ग्रंथ माला।

(१) ईश उपनिषद् की व्याख्या। ॥।=)
(२) केन उपनिषद् ,, ,, मू. १।)

[८] ब्राह्मण बोध माला।

(१) शतपथ बोधामृत। मू. ।)

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल;
औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक :--श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)